EVALUATION OF MALLINATHA AS A COMMENTATOR
OF
SANSKRIT KAVYAS

संस्कृत काव्यों के टीकाकार के रूप में
मल्लिनाथ का मूल्याङ्कन

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की डी० फिल्० उपाधि
के लिये प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता
राममुनि पाण्डेय एम० ए०, साहित्याचार्य

निर्देशक
डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय
रीडर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
१९७३

विषय-क्रम

पृष्ठसंख्या

पृष्ठसंख्या

प्राक्कथन

गुरु परम्परा से काव्यों एवं महाकाव्यों के अध्ययन-काल में उत्तरमेघ, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, एवं नैषध महाकाव्यों को बी०ए०, एम०ए० एवं आचार्य (साहित्य) पाठ्यक्रम में पढ़ते समय मुझे कोलाचल मल्लिनाथ की टीकाओं के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ था । इसके साथ ही वल्लभदेव एवं नारायण की टीकाओं से भी परिचय मिला था जो अपनी विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध हैं । किन्तु मल्लिनाथ सदृश टीकाशैली अन्यत्र दुर्लभ है । ये युगान्तरकारी टीकाकार माने जाते हैं और उन्हीं से स्वस्थ-टीका-परम्परा का सूत्रपात भी प्रारम्भ होता है । उस समय मैंने मल्लिनाथ को कितना किस रूप में समझा था, ऐसा मुझे आज स्मरण नहीं है परन्तु मन में यह विचार अवश्य हुआ था कि मल्लिनाथ की टीकाओं का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से करना चाहिए ।

मैंने महाकाव्य-ग्रन्थों का स्वाध्याय करते समय मल्लिनाथ की "वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकीम्" उक्ति की क्रियान्विति उनकी टीकाओं में स्पष्टतः देखी । उनका प्रगाढ़ पाण्डित्य, विशद अध्ययन तथा सारग्राहिणी प्रतिभा उनकी टीकाओं में सर्वत्र प्रतिबिम्बित हुई है ।

टीका ग्रन्थ का महत्त्व मूल ग्रन्थ से कम नहीं होता है और मल्लिनाथ जैसे महान् विद्वान् ने तो मूल ग्रन्थों को अपनी टीका-पद्धति से इस प्रकार सरल एवं बोधगम्य बना दिया है ; जैसे मणि के संयोग से कांचन और निखर जाता है । आज यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं है कि मल्लिनाथ की टीकाओं के अभाव में इन महाकाव्यों के कुछ स्थल अस्पष्ट ही रह जाते । उनके विशद विवेचन द्वारा वर्ण्य-विषय का वैशिष्ट्य अधिक हो जाता है ।

टीकाओं के अतिरिक्त मैंने मल्लिनाथ के उदार काव्य एवं रघुवीर चरित तथा "वैश्यवंशसुधाकर" मौलिक ग्रन्थ भी देखा है जो मल्लिनाथ की बहुमुखी प्रतिभा

के द्योतक हैं । 'वैश्यवंशसुधाकर' इतिहास का प्रसिद्ध ग्रन्थ है । इसमें वैश्यों की उत्पत्ति एवं वंशपरम्परा का वर्णन किया गया है । इतिहास के छात्रों के लिए इस ग्रन्थ में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है ।

शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में मुझे जिन ग्रन्थों से सहायता मिली है, उनके लेखकों के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ ।

प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृतविभागाध्यक्ष परमश्रद्धेय गुरुवर्य डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र, का मैं बहुत ही कृतज्ञ हूँ जिनकी प्रेरणा एवं मौलिक सुझावों से इस शोध-प्रबन्ध को अन्तिमरूप प्रदान करने में मुझे पर्याप्त सहायता मिलती रही है ।

पूज्यपाद आचार्य प्रवर पण्डित सरस्वती प्रसाद जी चतुर्वेदी के सत्परामर्श एवं विद्वत्तापूर्ण सुझावों के कारण ही मेरे शोध-कार्य में आने वाले व्याकरण सम्बन्धी गूढस्थल स्पष्ट हो सके तथा यह शोध-प्रबन्ध पूर्णरूप में प्रस्तुत किया जा सका । एतदर्थ उनके समक्ष नतमस्तक होकर मैं साभार प्रणिपात करना अपना कर्तव्य मानता हूँ ।

परमश्रद्धेय पण्डित लक्ष्मीकान्त जी दीक्षित (रीडर संस्कृत विभाग) इलाहाबाद युनिवर्सिटी,इलाहाबाद के परामर्श एवं मौलिक सुझावों का भी इस शोधकार्य में योगदान रहा है । अतः मैं उनका ऋणी रहूँगा ।

परमादरणीय डा० चन्द्रभानु जी त्रिपाठी अध्यक्ष संस्कृत विभाग, इलाहाबाद डिग्रीकालेज,इलाहाबाद, डा० जयशङ्कर त्रिपाठी,अध्यक्ष संस्कृत विभाग, ईश्वरशरण डिग्री कालेज,इलाहाबाद तथा डा० पद्माकर मिश्र,अध्यक्ष संस्कृत विभाग,यूर्विंग क्रिश्चियन डिग्रीकालेज,इलाहाबाद से भी मुझे उचित प्रोत्साहन और अनेक प्रकार की सहायता मिलती रही है । अतः इन सभी लोगों के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ ।

इस शोधप्रबन्ध के निर्देशक तथा अपने गुरुवर्य डा० सुरेशचन्द्र जी पाण्डेय (रीडर संस्कृत,विभाग) के प्रति मैं किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करूँ, जिन्होंने मेरे शोध-कार्य में पथ-प्रदर्शन ही नहीं किया वरन् अपने निर्देशन एवं सुझावों से मेरी

शोध-सम्बन्धी सभी समस्याओं का समाधान भी किया तथा जिनकी अनवरत सहायता से ही इस शोध-प्रबन्ध को मैं प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में संशोधन के बाद भी टङ्कण की जो अशुद्धियाँ रह गयी हैं, उनके लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ ।

अन्त में ऐश्वर्यप्रदायिका के मङ्गलशील द्वारा प्रेरणाशक्तिस्वरूपा परमेश्वरी को प्रणाम करता हुआ उन्हें ही इस कृति को समर्पित करता हूँ -

यया बिना नैव करोति किंचिन्नैवापि नापीच्छति सर्वदेवः ।
तस्यै परस्यै जगतां जनन्यै नमः शिवायै शिववल्लभायै ।।

निवेदक :-
रामपुनि पाण्डेय

वैशाख पूर्णिमा
संवत् २०३० वि०

प्रथम अध्याय

मल्लिनाथ का व्यक्तित्व एवं काल

(क) अनेक मल्लिनाथ :-

भारत की अतिप्राचीन ज्ञान-परम्परा का अध्ययन करने के पश्चात् पाश्चात्य विद्वानों ने भारतवर्ष को पण्डितों एवं ज्ञानियों का देश कहा है। भारतीय साहित्यिक ज्ञान-परम्परा का प्रचार-प्रसार समस्त भारतभूमि पर दृष्टिगोचर होता है। एक ही नाम के अनेक विद्वानों ने साहित्य-सृजन में अपना योगदान प्रदान करके इसे विशाल एवं अभ्युन्नत बनाया है। यद्यपि सामान्यजन विश्वविख्यात "अभिज्ञानशाकुन्तल" नाटक के लेखक महाकवि कालिदास से ही परिचित हैं किन्तु अन्य कालिदास भी हुए हैं।[1] अतः इतिहासविदों को अधिकांश कवि, लेखक तथा टीकाकारों के नाम के विषय में पूर्णतः असंदिग्ध सूचना एकत्र करना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो जाता है।

मल्लिनाथ के विषय में भी यही बात चरितार्थ होती है क्योंकि इस नाम के अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति हुए हैं। यहाँ पर मल्लिनाथ नाम से प्रसिद्ध विभिन्न व्यक्तियों का विवेचन किया जा रहा है।

(१) भोजप्रबन्ध ग्रन्थ के अन्तर्गत चर्चित मल्लिनाथ।
(२) शब्देन्दुशेखर तथा लघुशब्देन्दुशेखर के टीकाकार मल्लिनाथ।[2]
(३) कल्पद्रुम तथा वैद्यरत्न माला के प्रणेता मल्लिनाथ।[3]
(४) काव्यादर्श की वैमल्यविधायिनी टीका के रचयिता मल्लिनाथ।
(५) काव्यप्रकाश के टीकाकार सरस्वती तीर्थ के पिता मल्लिनाथ।
(६) कोलाचल मल्लिनाथ के पिता मल्लिनाथ।[4]
(७) कोलाचल मल्लिनाथ सूरि।

---

१. एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥ राजशेखर
२. आफ्रेट का कैटलागस कैटलागोरम
३. वही
४. संस्कृत साहित्य का इतिहास (लेखक- कृष्णामाचार्य), पृ० १२०

यह निर्विवाद सिद्ध है कि रघुवंश, मेघदूत, शिशुपालवध, कुमारसंभव, किरातार्जुनीय, नैषधीयचरित और भट्टिकाव्य पर टीका लिखने वाले मल्लिनाथ कोलाचलवंशोत्पन्न मल्लिनाथ "सूरि" ही हैं अर्थात् इन काव्यों और महाकाव्यों पर टीका लिखने वाले कोई एक ही मल्लिनाथ हैं। किन्तु भोजप्रबन्ध तथा आफ्रेट महोदय के कैटलागस कैटलागोरम में दूसरे मल्लिनाथ की भी चर्चा की गई है।

(१) भोजप्रबन्ध के अनुसार हमें मल्लिनाथ के विषय में निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होती है :-

महाराज भोज कवि दरबार में कविवर्यों द्वारा सभी कवियों के साथ मनोविनोद कर रहे हैं कि इसी समय द्वारपाल महाराज भोज को प्रणाम करता हुआ मल्लिनाथ कवि की एक गाथा उन्हें अर्पित करता है। गुणग्राही महाराज भोज कवि दरबार में ही कवियों के द्वारा मल्लिनाथ की गाथा को पढ़वाते हैं। गाथा का उल्लेख भोजप्रबन्ध में इस प्रकार हुआ है :-

काचिद्बालारमणवसतिं प्रेषयन्तीकरण्डम्
दासी हस्तात् सभयमलिखत् व्यालमस्योपरिष्टम् ।
गौरीकान्तं पवनतनयं चम्पकं चात्रभावम्
पृच्छत्यार्यो निपुणतिलको मल्लिनाथः कवीन्द्रः ।।

भोजप्रबन्ध द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर मल्लिनाथ की इस गाथा को सुनकर सम्पूर्ण सभा चमत्कृत हो गई। कालिदास राजा भोज की इस गाथा से इतना प्रभावित होते हैं कि वे महाराज भोज से मल्लिनाथ को बुलाने का आग्रह करने लगते हैं। राजा भोज कालिदास की प्रार्थना को स्वीकार करके मल्लिनाथ को सभा में बुलाते हैं और कहते हैं -

"किम् ! मल्लिनाथ कवे ! साधु रचिता गाथा" और मल्लिनाथ की इस गाथा से अत्यन्त प्रसन्न हो करके राजा भोज ने ५ हाथी, १० घोड़े और १ लाख स्वर्णमुद्रा का पुरस्कार भी दिये हैं।

पुरस्कार-प्राप्ति के पश्चात् मल्लिनाथ भोज की पुनः स्तुति करते हैं और राजा भोज उन्हें ३ लाख स्वर्णमुद्रा का पुरस्कार प्रदान करते हैं। धर्मिक में भाण्डारिक ने लिखा है :-

"प्रीतः श्रीभोजभूपः सदसि विरचितागौढनमौ [illegible]
कृत्वा हेम्नां सहस्त्रं सुरगान्र्केव नागान् [illegible] ।।
पश्चात्तेष सौ यं किरणागुणाक:[illegible]प्रीतचेता ।
लक्षं लक्षं च लक्षं पुनरपि च ददौ मल्लिनाथायतस्मै ।।

यद्यपि भोजप्रबन्ध के आधार पर इन्हें मल्लिनाथ को कवीन्द्र की उपाधि से विभूषित करने और उन्हें महान् कवि मानने में कुछ भी आपत्ति नहीं है किन्तु इतना तो दृढ़ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भोजप्रबन्ध में निर्दिष्ट मल्लिनाथ, कुमारसम्भवादि महाकाव्यों के टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ "सूरि" नहीं थे क्योंकि भोजप्रबन्ध कोई प्रामाणिक और ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। भोज प्रबन्ध के अनुसार भोज की कविसभा में बाण, दण्डी, कालिदास, वररुचि, तथा भवभूति आदि को एक ही साथ बैठाया गया है। एक निम्नलिखित श्लोक से इस ग्रन्थ की अप्रामाणिकता और भी सिद्ध हो जाती है। श्लोक इस प्रकार है :-

""भट्टिर्नष्टो भारवीयोऽपि नष्टो
भिक्षुर्नष्टो भीमसेनोऽपि नष्टः
भुक्कुण्डो हं भूपतिस्त्वं हि राजन् -
न्भव्भावल्यामन्तकः सन्निविष्टः ।।"

इन कालिदास, भारवि, भवभूति, बाण और वररुचि के समय में पर्याप्त अन्तर देखते हैं। भोजप्रबन्ध में कालिदास का मल्लिनाथ की गाथा से प्रसन्न होना और इन सभी कवियों का सभा में एक ही साथ बैठना केवल कल्पना मात्र ही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ जो कि कोलाचल मल्लिनाथ के नाम से विख्यात हैं, भोजप्रबन्ध में निर्दिष्ट मल्लिनाथ से सर्वथा भिन्न हैं।

(२) आफ्रेट महोदय ने केटलागस-केटलागोरम में कोलाचल मल्लिनाथ के अतिरिक्त दो मल्लिनाथ नामधारी विद्वानों की सूची उपलब्ध हुई है। प्रथम मल्लिनाथ जो कोलाचल मल्लिनाथ से भिन्न हैं, उनकी कृतियाँ "कल्पद्रुम" और वैद्यरत्न माला हैं। दूसरे मल्लिनाथ की कृतियाँ "शब्देन्दुशेखरटीका" और "लघुशब्देन्दुशेखर" हैं।

(३) । इन्हीं से प्रसिद्ध अलङ्कार ग्रन्थ काव्यादर्श की वैमल्यविधायिनी टीका के रचयिता का नाम मल्लिनाथ था जिनके पिता का नाम जगन्नाथ था । ये मल्लिनाथ कोलाचल मल्लिनाथ से भिन्न हैं क्योंकि कहीं पर भी कोलाचल मल्लि-नाथ को वैमल्यविधायिनी टीका का प्रणेता नहीं कहा गया है ।

(४) काव्यप्रकाश की वामनी टीका की भूमिका में एक और मल्लिनाथ का उल्लेख मिलता है जिनको शिशुपालवध महाकाव्य के टीकाकार दुर्गाप्रसाद ने रघु-वंशादि महाकाव्यों के टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ से सर्वथा अभिन्न मानते हैं किन्तु दुर्गाप्रसाद जी के इस पक्ष को सत्यपूर्ण नहीं माना जा सकता है क्योंकि काव्यप्रकाश के टीकाकार आचार्य सरस्वतीतीर्थ ने अपने पिता मल्लिनाथ को रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, नैषधीयचरित, शिशुपालवध और भट्टिकाव्य के टीका-कार के रूप में नहीं उद्धृत किया है । सरस्वतीतीर्थ के पिता मल्लिनाथ अपने को काश्यपगोत्रज बताते हैं जो कि कोलाचल वंशोत्पन्न मल्लिनाथ से सर्वथा भिन्न हैं ।. कृष्णमाचार्य महोदय ने प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ को काश्यपगोत्रज बताया है[१]। काव्यप्रकाश की वामनीटीका की भूमिका से स्पष्ट हो जाता है कि कोलाचलमल्लि-नाथ काश्यपगोत्रज नहीं थे । यदि सुधीजन काश्यपगोत्रज मल्लिनाथ को कोलाचल व मल्लिनाथ का उपनाम होने का संशय करें तो उनका यह सन्देह भी निरर्थक होगा क्योंकि सरस्वतीतीर्थ ने अपने पिता मल्लिनाथ को सोमयाग का कर्ता तो लिखा है किन्तु कहीं भी रघुवंशादि महाकाव्यों के टीकाकार के रूप में नहीं उल्लिखित किया है ।

सरस्वतीतीर्थ के द्वारा उल्लिखित अपने पिता मल्लिनाथ के कोलाचल मल्लिनाथ से सर्वथा पृथक् होने का दूसरा कारण और भी हो सकता है कि ये मल्लिनाथ सोमयाग में ही सदा लगे रहते थे । और इसीलिये पर्याप्त समय सापेक्ष

---

१. Mallinatha, Telgu Brahmin, of Kasyapa gotra, of Kolachala Family, was the grandson of Mallinatha and son of Kapardin. — History of Sanskrit Literature.

। इन उपर्युक्त मल्लिनाथों के अतिरिक्त कोलाचल मल्लिनाथ के पितामह का भी नाम मल्लिनाथ ही था ।[१]

अब आगे हमारे शोध के विवेच्य कोलाचल मल्लिनाथ के जीवन और काल के विषय में विचार प्रस्तुत किया जा रहा है ।

(ख) मल्लिनाथ का जीवन-परिचय :-

मल्लिनाथ का प्रारम्भिक नाम पैदभट्ट था । आज भी तैलगू और कर्नाटक प्रान्तों में लोग मल्लिनाथ के पैदभट्ट नाम से परिचित हैं । प्रारम्भ में ये प्रतिभा सम्पन्न छात्र नहीं थे । इनकी शिक्षा-दीक्षा भी विचित्र ढंग से हुई थी । ३० वर्ष की आयु तक ये बिल्कुल मूर्ख थे किन्तु ३० वें वर्ष के अन्त में ही वाराणसी में मल्लिनाथ की शिक्षा का समारम्भ हुआ । अनेक प्रयत्नों के पश्चात भी इनके पिता इन्हें पढ़ाने लिखाने में असफल रहे । कुछ दिनों के पश्चात् जब पिता मल्लिनाथ से परेशान हो गये तो उन्होंने इनको इनके श्वसुराल भेज दिया किन्तु वहाँ पर इनके श्वसुर भी इनसे परेशान हो गये । मल्लिनाथ विद्यालय पढ़ने तो अवश्य जाया करते थे किन्तु मन्दबुद्धि होने के कारण अन्य विद्यार्थियों के उपहास के पात्र बनते थे । परिणामस्वरूप अतिशीघ्र ही अध्ययन के प्रति इनकी अरुचि बढ़ती गई । किंवदन्ती है कि गुरु की सलाह से मल्लिनाथ को निम्बतैल का सेवन कराया गया और इस तैल के सेवन से ही इनकी प्रतिभा उत्तरोत्तर चन्द्रकला के समान वृद्धि को प्राप्त होने लगी । थोड़े ही दिनों में वर्णमाला सीखने के पश्चात् समस्त संस्कृत-वाङ्मय का ज्ञान इन्हें हो गया और ये एक आदर्शविद्यार्थी की भाँति उन्हीं गुरुदेव के अन्तेवासी बनकर तथा उन्हीं के आदेशानुसार पुनः अपने घर लौट करके गार्हस्थ्य-जीवन की नियमितता एवं बन्धन स्वीकार किये ।[२]

---

१. द्रष्टव्य - संस्कृत साहित्य का इतिहास- कृष्णमाचारी, पृ० १२०

२. द्रष्टव्य - 'पैदभट्टचरितम्' सम्पादक मैसर्स पुट्टान्ना बी०ए० और श्रीनिवास आयंगर, एम०ए०, मैसूर ।

१ मल्लिनाथ के दो पुत्र थे। उनके बड़े पुत्र का नाम पेद्दभट्ट या पेद्दार्य था और छोटे का कुमारस्वामिन्। कुमारस्वामिन ने प्रतापरुद्रयशोभूषण पर टीका लिखते समय एक स्थान पर अपनी वंशपरंपरा की ओर संकेत किया है :—

निरवद्यपदाब्जजलधिं चक्री गुरुते यस्य वा:
तस्य श्री मल्लिनाथस्य तनयो जनि तादृश: ।
व्याख्यातनिखिलशास्त्र: प्रबन्धकर्ता च सर्वविद्यासु ।।
तस्यानुजन्मा तदनुग्रहाप्तविज्ञानवैभवविनयावनम्र:
स्वामी विपश्चित् वितनोति टीकां प्रतापरुद्रीयरत्नश्रेणीम् ।।

प्रतापरुद्रयशोभूषणग्रन्थ का उल्लेख मल्लिनाथ ने अलङ्कारों के प्रसंग में शिशुपालवध, कुमारसंभव, रघुवंश, मेघदूत और भट्टिकाव्य की टीकाओं में किया है।

चम्पूरामायण पर टीका लिखने वाले वेंकटनारायण ने अपनी 'पद्योतिका' टीका में कुमारस्वामिन की वंश परम्परा को इस प्रकार से उल्लिखित किया है :—
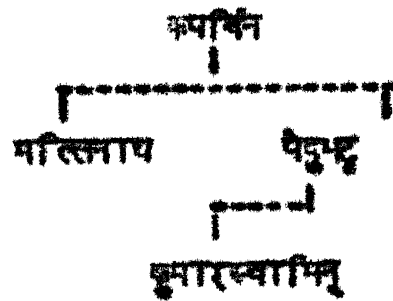
कपर्दिन्
|
मल्लिनाथ — पेद्दभट्ट
|
कुमारस्वामिन्

कोलाचलमान्वयाम्भोधीन्दु मल्लिनाथो महायशा: ।
शतावधानविख्यात: वीररुद्राभिवर्णित: ।।
मल्लिनाथात्मज: कपर्दीन्यायकोविद: ।
चक्रे शीतलपत्यकारिकावृत्तिमातनोत् ।।
कपर्दितनयोधीमान पेद्दभट्टोमहीयस: ।
महीपाध्याय सार्थोत: सर्व देशेषु सर्वत: ।।
मातुलेय कुली विद्वो उर्वीनाभिवर्णित: ।
महाभिषकृसर्वेन प्रौढेनन्यभरणान् बहून् ।।
नैषधज्योतिषादीनां व्याख्याता कवयात्गुरु: ।
पेद्दभट्टसुत: श्रीमान् कुमारस्वामिसंज्ञित: ।
प्रतापरुद्रीयाख्यान व्याख्याता विपश्चिम: ।।

यहाँ पर एक बात और विचारणीय है कि कोलाचल्ल कोलाचल अथवा कोल-चल शब्द, जो मल्लिनाथ से सम्बन्धित है, उनका क्या अर्थ और महत्त्व है। वस्तुत: ये तीनों शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं। कोलाचल मल्लिनाथ के ग्राम का नाम है।[1] किन्तु अभी तक निर्णीत नहीं है कि कोलाचल मल्लिनाथ की जन्मभूमि है अथवा उनके द्वारा अधिकृत स्थान। किंवदन्ती है कि १५ वीं शताब्दी के एक सम्पत्ति सम्पन्न जमींदार थे जो स्वयं विद्याव्यसनी एवं विद्वानों के आदरकर्ता थे। सम्भवत: मल्लिनाथ भी उसी जमीन्दार की सभा के पण्डित थे तथा उन्हीं के आश्रय में रहकर सरस्वती की आजन्म सेवा करते रहे।

'सूरि' एवं 'मल्लि' शब्दों का अर्थ एवं सार्थकता :-

प्राय: मल्लिनाथ की सभी टीकाओं में कोलाचल मल्लिनाथ के नाम के आगे 'सूरि' शब्द का प्रयोग किया गया है। अत: 'सूरि' शब्द के प्रयोग की सार्थकता पर दृष्टिपात करना समीचीन प्रतीत होता है।

'सूरि' जैन आचार्यों के लिए सम्मानपूर्ण उपाधि प्रदान की जाती थी[2]। जिनेश्वर कृत "मल्लिनाथ चरित" के माध्यम से प्राप्त जानकारी के अनुसार मल्लिनाथ चौबीस तीर्थङ्करों में से एक तीर्थङ्कर थे और वासुपूज्य 'मल्लि' 'अरिष्टनेमि', 'पार्श्व' और 'महावीर' के कुमारावस्था में प्रव्रजित होने का उल्लेख प्राप्त होता है। 'आवश्यकनिर्युक्ति' (पृ० २४३-२४४) में लिखा गया है कि :-

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च
ए ये मोत्तूण जिणे अवसेसा आसिरायाणो
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तियकुलेसु
न य इत्थियाभिसेया (?) कुमारवासम्मि पव्वइया ॥

---

१. शृंगेरी मठ के एस० वैद्यनाथ शास्त्री का ४ सितम्बर, सन् १९०१ ईसवी का पत्र द्रष्टव्य।

२. Suri - A title of respect given to the Jain teachers - for example - Mallinatha Suri - Optay

मल्लि ने पंचमुष्टि लोचकरके श्रमण-दीक्षा स्वीकार की थी और सम्मेदशैलशिखर पर पादोपगमन धारण करके सिद्धि पायी थी ।[1] पुनः इसी पुस्तक के २५० पृष्ठ पर वासुदेव आयतन, बलदेवप्रतिमा, स्कन्दप्रतिमा, मल्लि की प्रतिमा तथा उत्कीर्णिका आदि का उल्लेख किया गया है ।

किन्तु ये हमारे टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ जैन नहीं थे । मल्लि-नाथ से सम्बन्धित 'सूरि' शब्द का अर्थ विद्वान से ही है । मल्लिनाथ स्थानीय शिव देवता का नाम है । इनकी असाधारण प्रतिभा के कारण ही इन्हें 'सूरि' उपाधि प्रदान की गई होगी ।[2]

<u>मल्लिनाथ का जन्म स्थान</u> :-

मल्लिनाथ के जन्मस्थान के विषय में भी उनके स्थिति-काल की भाँति ही विद्वानों में वैमत्य है । कुछ विद्वानों के अनुसार उनके निवास-स्थान को उत्तरदिशा में स्थित 'देवपुरा' माना जाता है - संभवतः मल्लिनाथ देवपुरा के निवासी [illegible] थे ।[3] किन्तु यह सिद्ध करना बहुत ही दुष्कर कार्य है । अन्य विद्वानों के अनुसार मल्लिनाथ का जन्मस्थान राजमुंद्री है । यह आन्ध्र-प्रदेश में स्थित है । मल्लिनाथ दक्षिणभारत के तेलगु एवं कनारीज प्रान्तों के ही थे क्योंकि आज भी वहाँ के लोग मल्लिनाथ को 'पेदभट्ट' नाम से ही परिचित हैं । के०पी० त्रिवेदी ने मल्लिनाथ के पिता का नाम 'देववर्मा' माना है जो दक्षिणभारत के रहने वाले थे । 'वर्मा' नाम चालुक्यनरेशों का था जैसे - कीर्तिवर्मा तथा नरसिंहवर्मा । नरसिंहवर्मा दक्षिणी भारत का निवासी था वातापी जिसकी राजधानी थी ।[4] अतः निश्चितरूप से मल्लिनाथ आन्ध्रप्रदेश के निवासी रहे होंगे ।

---

१. प्राकृत साहित्य का इतिहास- पृष्ठ ८१
२. कोलाचल श्रीनिवास का ४ सितम्बर १९०१ ई० का पत्र तथा "पेदभट्टचरितम्" प्रकाशित मैसूर पत्रिका द्रष्टव्य ।
३. द्रष्टव्य -"पेदभट्टचरितम्" श्रीनिवास आयंगर
४. द्रष्टव्य- विद्याधर कृत एकावली पर के०पी० त्रिवेदी की भूमिका ।

(ग) मल्लिनाथ का काल :-

भारतीय संस्कृत टीका-साहित्य में मल्लिनाथ के महान्व्यक्तित्व का असाधारण एवं आश्चर्यजनक परिचय हमें मिलता है। मल्लिनाथ से ही संस्कृत टीका शैली का विकास एवं साथ ही उसकी समृद्धिशालिनी परम्परा का प्रारम्भ भी होता है। ये सर्वथा असामान्यप्रतिभा को लेकर जन्मे थे। उनके इस असाधारण व्यक्तित्व की छाप सर्वत्र उनकी टीकाओं में समाहित है। मल्लिनाथ की उज्ज्वल कीर्ति आज देश और काल की परिधियों को तोड़ कर सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक महत्त्व को प्राप्त कर रही है। उन्हें आज हम आदर्श टीकाकार के उच्चासन पर विराजमान देखते हैं।

संस्कृत काव्यसाहित्य के 'लघुत्रयी' और 'बृहत्त्रयी' के अतिरिक्त (व्याकरणप्रधान) भट्टिकाव्य तथा (अलङ्कारशास्त्रप्रतिपादक) 'एकावली' आदि ग्रन्थों पर टीका लिख कर सहृदय समाज के लिए आदर्श टीका की विधा को प्रस्तुत करने वाले, साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र मल्लिनाथ के आलोक से संस्कृत काव्यजगत आलोकित हो उठा। न केवल साहित्य के प्रसिद्ध काव्यों की टीकाओं में मल्लिनाथ की कुशाग्रबुद्धि का परिचय मिलता है अपितु दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थों की जटिल गुत्थियों को सुलझाकर मल्लिनाथ ने परवर्ती टीकाकारों, पाठकों एवं लेखकों का जो उपकार किया है, उसे विद्वत् समाज कभी नहीं भुला सकता है। तभी तो ४००-५०० वर्षों के सुदीर्घ अन्तराल के पश्चात् आज भी वे विद्वानों में श्रद्धा एवं आदर के पात्र बने हैं। मल्लिनाथ की प्रतिभा का परिचय तो इससे भी होने लगता है कि इस समय भी जो व्यक्ति अच्छी आलोचना कर लेता है, उसे हम मल्लिनाथ की संज्ञा से अभिहित करते हैं।

परन्तु दुःख का विषय है कि ऐसे महान् टीकाकार के जीवन-काल का निश्चितरूप से असन्दिग्ध परिचय हमें नहीं मिलता है। भारतीय मनीषी लोकैषणा से दूर रहे हैं, मल्लिनाथ भी अपने ऐसे पूर्व मनीषियों की परम्परा में हैं जो अपने जीवन के विषय में कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं करते, अतः उनके जन्म-

काल का परिचय प्राप्त करने के लिए हमें परमुखापेक्षी ही होना पड़ता है। बाह्य साक्ष्य एवं अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही हम उनके जन्म-काल के विषय में कुछ निश्चित करने की स्थिति में हैं।

मल्लिनाथ के समय के विषय में अनेक आधुनिक विद्वानों ने अपने मत प्रस्तुत किये हैं जिनके अनुसार इस महान् टीकाकार का स्थिति काल १४ वीं शताब्दी से लेकर १६ वीं शताब्दी के मध्य रखा जा सकता है। इन विद्वानों के मतों पर विचार करने से पूर्व मल्लिनाथ के काल की अवर सीमा (Lower Terminus) और पर सीमा (Upper Terminus) को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

<u>मल्लिनाथ के काल की अवरसीमा :-</u>

सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में मल्लिनाथ की व्याकरणसम्बन्धी त्रुटि की ओर संकेत किया है। शिशुपालवध १।५१ में मल्लिनाथ ने 'अवस्कन्द' 'लुनीहि' और 'मुषाण' तथा 'अस्वास्थ्यमकृत' में 'पौनःपुन्य' अर्थ में क्रिया समभिहार माना है।[1] मल्लिनाथ के ही शब्दों में — " अत्र 'अवस्कन्द' इत्यादौ 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' (पा०३।४।२) इत्यनुवृत्तौ 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' (पा० ३।४।३) इति विकल्पेन सामान्ये लोट्। तस्य यथापूर्वं सर्वलिङ्गादेशौ हिस्वौ च। प्रकरणादिना त्वर्थविशेषावसानम्। 'अतो हेः' (पा०६।४।१०५) इति यथायोग्यं हि लुक्। पौनः पुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः। तत्सामान्यस्य करोतेः 'समुच्चये सामान्यवचनस्य (पा०३।४।५) इत्यनुप्रयोगः कर्ते इति।"

भट्टोजिदीक्षित ने 'क्रियासमभिहारे लोट्' सूत्र से लेकर अस्वास्थ्य की क्रिया में असङ्गति प्रदर्शित की है क्योंकि 'अवस्कन्द' 'लुनीहि' और मुषाण में नित्य नहीं है। 'समभिहार' का अर्थ पौनः पुन्य अथवा 'भृशार्थ' होता है। कौमुदीकार ने यहाँ पर 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' सूत्र से ही अस्वास्थ्यकरणक्रिया का सम्बन्ध 'मुषाण' और 'लुनीहि' क्रियाओं से माना है। उन्हीं के शब्दों में —

---

१. पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः॥ १।५१

"एतेन पुरीमवस्कन्द इति....... व्याख्यातम् । अवस्कन्दलक्षनाक्रिया भूतान-द्यतनपरोक्षा एककर्तृका अस्यास्त्यक्रिया इत्यर्थात् । इह पुन: पुन: पुन: पस्कन्दै-रित्याधिरथं इति तु व्याख्यानम् भ्रममूलकमेव । द्वितीयसूत्रे क्रियासमभि: हार: इत्यस्य अनुवृत्ति: । लो न्तस्य द्वित्वापत्तेश्च । पुरीमवस्कन्देत्यादिमध्यमपुरुषैकवचन-मित्यपि कैश्चाविद्भ्रम एव । पुरुषवचनयो इत्नैत्युक्त्वात् ।"

अब यहाँ पर मल्लिनाथ के काल की अवरसीमा निर्धारित करने के लिए भट्टोजिदीक्षित के समय पर विचार करना समीचीन प्रतीत होता है । भट्टोजि-दीक्षित के काल-निर्णय के सम्बन्ध में निम्नलिखित विद्वानों के मत उद्धृत किये जा सकते हैं :--

विद्वान्	समय(भट्टोजिदीक्षित)	ग्रन्थ
१. डा० साल्टर	१५७५ ई० से लेकर १६२५ ई०	क्लासिक के इतिहास की समालोचना (१६३७ ई०)
२. रामकृष्णदास बम्भार	१५७० से १६३५ ई०	"भट्टोजिदीक्षित" (१६३६) के पृष्ठ ३४६ में ।
३. प्रो०सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी	१६०० ई०	मैसूर औरियन्टल कान्फ्रेन्स प्रोसीडिंग्स के पृष्ठ ७४२
४. प्रो०पी०वी०काणे	(१) १५७५ से १६५०	(१) धर्मशास्त्र का इतिहास प्रथमभाग,पृ० ७१६
	(२) १५६० से १६२० ई०	(२) धर्मशास्त्र के इतिहास प्रथमभाग के५१७ पृष्ठमें
	(३) १७ वीं शताब्दी का प्रथम भाग	(३) धर्मशास्त्र के इतिहास का प्रथमभाग,पृ० ४५४
५. डा० एस०के० बैलवल्कर	१६३० ई०	संस्कृत व्याकरण की पद्धति ( ) (१६१५ ई०)
६. ए०बी० कीथ	१७ वीं शताब्दी	संस्कृत साहित्य के इतिहास के पृ० ४३०
७. विन्टरनित्स	१६२५ ई०	भारतीय साहित्य का इतिहास (जर्मन) तृतीयभाग, पृ० ३६४ ।

उपर्युक्त तर्कों से प्रतीत होता है कि भट्टोजिदीक्षित का समय १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १७ वीं का पूर्वार्द्ध था। दीक्षित के काल-सीमा को निर्धारित करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मल्लिनाथ १७ वीं शताब्दी से पूर्व अवश्य रहे होंगे।

(२) मल्लिनाथ की अवरसीमा को निर्धारित करने के लिए नैषध-महाकाव्य पर टीका लिखने वाले लक्ष्मणभट्ट से भी सहायता प्राप्त होती है। डा० पी०के०गोडे ने लक्ष्मणभट्ट के कालक्रम की अवरसीमा १७३० ई० और परसीमा १५३१ ई० निश्चित की है।[1]

इनके काल-निर्णय को निश्चित करने के लिए इन लक्ष्मणभट्ट की नैषध पाण्डुलिपि की टीका की जिसका समय संवत् १७३७ अर्थात् १६८० ईस्वी है, से भी सहायता मिलती है। इस प्रकार लक्ष्मण भट्ट का काल १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच में माना जा सकता है।[2]

लक्ष्मणभट्ट ने मल्लिनाथ को उद्धृत किया है।[3] अतः मल्लिनाथ को १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से बाद का नहीं माना जा सकता है।

(३) आचार्य विश्वेश्वर भट्ट ने जिनका उपनाम गंगभट्ट था, नैषध पर टीका लिखी है। ये विश्वेश्वर भट्ट कमलाकर भट्ट और लक्ष्मणभट्ट के भतीजे थे।[4] कमलाकर भट्ट का समय १६१२ ई० है।[5] फलस्वरूप उन्होंने मराठा साम्राज्य के संस्थापक शिवाजी के राज्यारोहण के कार्यभार सँभालने का कार्य १६७४ ई० में किया।[6]

---

1. Dr. Gode, Date of Laksman Bhatta, Cal. Oriental Journal, Vol. II, Page. 309-312.
2. A.N. Jani's Naisadhiya Charitam Page 117.
3. Ibid., Page. 18.
4. A Critical Study of Shree Harsha's Naisadha Charita by A.N. Jani.
5. Dr. Gode, Date of Laksman Bhatta, Cal. Ori. Journal, Vol. II, Page. 309-1
6. महामहोपाध्याय पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथमभाग, पृ० ४३७, विस्तृततुलना के लिए द्रष्टव्य प्रो०वी०एस० भट्ट का "राज्याभिषेक ग्रन्थ" पृ० १९६ से २२१ के बीच।

आचार्य विश्वेश्वर भट्ट के पितृव्य लक्ष्मण भट्ट ने मल्लिनाथ की जीवातु टीकाको उद्धृत किया है।[1] लक्ष्मण भट्ट और कमलाकर भट्ट जो दोनों भाई थे, यदि विश्वेश्वर भट्ट के चाचा थे, तो लक्ष्मण भट्ट और कमलाकर भट्ट के आस-पास ही विश्वेश्वर भट्ट का भी समय रहा होगा। लक्ष्मण भट्ट का समय पहले ही निश्चित किया गया है। अतः सिद्ध होता है कि मल्लिनाथ विश्वेश्वर भट्ट के पूर्ववर्ती रहे होंगे। इस प्रकार मल्लिनाथ की अवरसीमा १७ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध प्रतीत होता है।

मल्लिनाथ की परसीमा :-

मल्लिनाथ की अवरसीमा निर्धारित करने के पश्चात् पर सीमा भी निश्चित की जानी चाहिए। उन्होंने अपनी टीकाओं में स्थान-स्थान पर संगीत के प्रसङ्ग में "संगीत रत्नाकर" ग्रन्थ को उद्धृत किया है।[2] यह ग्रन्थ शक संवत् ११३१ से ११६६ तक के समय में राज्य करने वाले यादवनरेश सिंहण के समय में लिखा गया था। यह नरेश दक्षिणापथ में सम्प्रति दौलताबाद नाम से प्रसिद्ध देवगिरि नगर में शासन करता था।[3] संगीत रत्नाकर संगीतशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ ग्रन्थ है। इसके लेखक श्रीशार्ङ्गदेव सिंहणनरेश के समकालीन थे। सिंहणनरेश का समय शक सम्वत् ११३२ से ११६६ अर्थात् १२१० ई० से लेकर १२४७ ई० के मध्य है। अतः श्रीशार्ङ्गदेव को हम निश्चित रूप से १३ वीं शताब्दी का रहने वाला सिद्ध कर सकते हैं। संगीतरत्नाकर ग्रन्थ को प्रमाणरूप में उद्धृत करने वाले मल्लिनाथ को हम १३ वीं शताब्दी का परवर्ती अवश्य मान सकते हैं। इस प्रकार मल्लिनाथ के काल की परसीमा १३ वीं शताब्दी निश्चित होती है।

मल्लिनाथ के टीका ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य उनके काल की सीमा को १४ वीं से १५ वीं शताब्दी तक व्याप्त करते हैं। आगे क्रमशः इन तथ्यों की कसौटी की जा रही है और मल्लिनाथ के समय को विवेचित करने वाले साक्ष्य प्रस्तुत किये

---

1. Dr. Gode, Date of Laksman Bhatta, Cal. Ori. Journal Vol. II Page 309-12.
2. कुमारसंभव ३।१ पर संजीवनी व्याख्या द्रष्टव्य।
3. विद्याधर की एकावली पर के०पी० त्रिवेदी की भूमिका से।

जाती हैं :—

कुमारसम्भव के श्लोक १।२५ में मल्लिनाथ ने सिंहभूपाल का उल्लेख किया है जिसका उपनाम "सर्वज्ञ" भी है। यही सर्वज्ञ या सिंहभूपाल "रसार्णव-सुधाकर" ग्रन्थ के प्रणेता थे। इनके पिता का नाम अनन्त था जो कि १३३० ई० में वेंकटगिरि में राज्य करने वाले राजा थे। ये सिंहभूपाल रेचर्ला के थे जिनका साम्राज्य विन्ध्यपर्वत और श्रीशैल के मध्य था जिसकी राजधानी "राजाचलम्" में परम्परा से ही प्रसिद्ध थी। सिंगप्रभु इनके पितामह थे। "प्रेसीडेन्सी कालेज, मद्रास के संस्कृत विभाग के स्वर्गीय प्रो० शेषगिरि शास्त्री ने इन सिंगभूपाल को सिंगनायक की संज्ञा से अभिहित किया है। वेंकटगिरि के राजाओं के जीवन-चरित्र के प्रामाण्य के आधार पर सिंगभूपाल का स्थिति-काल १३३० ई० निश्चित किया जा सकता है।[१]

मल्लिनाथ ने कुमारसम्भव महाकाव्य के श्लोक १।२५ में लावण्य शब्द की परिभाषा एवं लक्षण सिंहभूपाल के "रसार्णवसुधाकर" ग्रन्थ से उद्धृत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के १।८१ में "लावण्य" शब्द का लक्षण इस प्रकार से किया गया है :—

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा
प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोच्यते ।।

"रसार्णवसुधाकर" के लेखक सिंहभूपाल को उद्धृत करने वाले मल्लिनाथ १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद के ही होंगे क्योंकि रसार्णव सुधाकर ग्रन्थ को प्रसिद्ध होने में भी कम से कम २५ वर्षों का समय अवश्य लगा होगा। यदि यह ग्रन्थ मल्लिनाथ के समय में प्रसिद्ध न हुआ होता तो वे इसे प्रमाणरूप में कदापि न उद्धृत करते।

---

१. Vide Page 7-10, Report on a Search for Sanskrit and Tamil Manuscripts for the year 1869-97 by Shree Sheshagiri Shastri, M.A., Madras.

प्रो॰ ई॰ एन॰ कृष्णमाचारियर महोदय शिङ्गभूपाल का समय १३४० से १३६० ई॰ के मध्य सिद्ध करते हैं।[1] इसके अतिरिक्त अनपोत माधव की भी रङ्गण-प्लेट जो कि शकाब्द १३४३ अर्थात् १४२१ ई॰ की है, के द्वारा भी शिङ्गभूपाल के जीवन-चरित्र एवं शासनक्रम के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञातव्य बातें उपलब्ध होती हैं।

मल्लिनाथ को १४ वीं शताब्दी में सिद्ध करने का दूसरा प्रमाण यह भी दिया जा सकता है कि कुमारसंभव में उन्होंने मुग्धबोध के प्रणेता बोपदेव का उद्धरण दिया है।[2] ये बोपदेव यादवनरेश महादेव और उनके उत्तराधिकारी रामचन्द्र के समकालीन थे। यादववंश के अन्तिम नरेश का शासनकाल १२७१ ई॰ से लेकर १३०९ ई॰ के मध्य था।[3] अतः मल्लिनाथ का समय १४ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अवश्य रहा होगा।

महामहोपाध्याय कोलाचल मल्लिनाथ को १४ वीं शताब्दी का सिद्ध करने के लिए तीसरा प्रमाण यह है कि उन्होंने अपनी टीकाओं में अलङ्कारों के प्रसङ्ग में अलङ्कारशास्त्र के प्रसिद्ध लक्षणग्रन्थ "एकावली" का भूयोभूयः प्रयोग किया है।[4]

मल्लिनाथ ने स्वयं एकावली पर "तरल" नामकी टीका लिखी है। विद्याधर का समय १४ वीं शताब्दी के मध्य का निश्चित माना जाता है।[5] विद्याधर के समय को निश्चित करने के लिए सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने "प्रतापरुद्रयशोभूषण" नामक अलंकार ग्रन्थ के ऊपर "रत्नापण" नाम की टीका लिखी है। मूलग्रन्थ के प्रणेता विद्यानाथ विद्याधर के सम-

---

1. Journal of Oriental Research Baroda, Vol. VII, Pages. 25-33.
2. कुमारसंभव- २।१ संजीवनी
3. विद्याधर की एकावली पर के०पी० त्रिवेदी की भूमिका से।
4. किरातार्जुनीयम् की घण्टापथ टीका में ४।३८, १८।४४, शिशुपाल वध १।५१, मेघदूत (केयूरं गिरिषु श्लोक में)
5. S. K. De, History of Sanskrit Literature.

कालीन है। विद्यानाथ ने अपनी इस ग्रन्थ में काकतीय नरेश प्रतापरुद्र के यश का वर्णन किया है। वारंगलनरेश प्रतापरुद्र के ऊपर १३०८ ई० में अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने चढ़ाई की थी और १वर्ष तक गढ़ में घिरे रहने के बाद काफ़ूर का मानना तथा वार्षिक कर देकर प्रतापरुद्र ने छुटकारा पाया था।[१] अतः प्रतापरुद्र का समय १४ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

मल्लिनाथ और कुमारस्वामी ने साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ को उद्धृत किया है।[२] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का समय १४ वीं शताब्दी माना जाता है।[३] इस स्थिति में मल्लिनाथ और उनके पुत्र कुमारस्वामी का समय १४ वीं शताब्दी का मध्य या उत्तरार्द्ध होना चाहिए।

लेकिन अन्तःसाक्ष्य के अन्य प्रमाण उनको चौदहवीं शताब्दी के आगे भी ले जाते हैं। मल्लिनाथ को १५ वीं शताब्दी का सिद्ध करने के लिए "वैश्यवंशसुधाकर" और "नैषधीयचरित" को आधार माना जा सकता है। "वैश्यवंशसुधाकर" इतिहास का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

इसका प्रणयन कोलाचलमल्लिनाथ सूरि ने किया।[४] यह ग्रन्थ आन्ध्रभाषा में लिखा गया है। मद्रास विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के प्राध्यापक डा० एन० वेंकटरमनैया महोदय ने सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का उल्लेख अपनी पुस्तक "नगरों तथा राज्यों की उत्पत्ति" नामक अध्याय में किया है। वैश्यों की वंशावली को प्रस्तुत करने वाले इस ग्रन्थ के मध्य और अन्त की भाषा तेलगू है किन्तु मुख्यतः यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखा गया है। कोलाचल मल्लिनाथ के

---

१. भारतीय इतिहास का उन्मीलन (लेखक श्री जयचन्द्र विद्यालंकार), पृ० ३८८

२. नैषध की जीवातु टीका में १।११,१४,२२ और २३ द्रष्टव्य तथा "सम्भोगा-नन्द धर्म्मोदी मर्मामर्मोपयोगवः" इत्यादि साहित्यदर्पणी (परिच्छेद ३।१४६)

३. ए०बी० कीथ "संस्कृत साहित्य का इतिहास।

४. वैश्यवंशसुधाकर Of Mallinatha, by Dr. V. Raghavan, Catalogue of Sanskrit Mss. in the Govt. Library Mysore, 1922.

अतिरिक्त सरस्वतीतीर्थ हैं जिन्होंने अपने को काश्यपगोत्रीय बतलाया है, मल्लिनाथ के नाम से प्रसिद्ध थे। "भोजप्रबन्ध" में भी मल्लिनाथ का नाम आया है। कृष्णमाचार्यमिशोध्य ने भी मल्लिनाथ का नाम लिया है।[1] ये जगन्नाथ पुत्र मल्लिनाथ थे।

यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि क्या रघुवंश, कुमारसंभवादि काव्यों पर टीका लिखने वाले मल्लिनाथ ही "वैश्यवंशसुधाकर" ग्रन्थ के लेखक हैं अथवा उनके अतिरिक्त अन्य कोई? ग्रन्थ में आया हुआ निम्नलिखितगद्यावतरण ही कोलाचलमल्लिनाथ सूरि को उस ग्रन्थ का कर्ता सिद्ध करता है, गद्यांश इस प्रकार है:–

"इतिपदवाक्यप्रमाणपारावारीणकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितेवैश्यवंश्य (वंश) सुधाणिवे (वे) (बालुवंश विषयो नाम) स्मृतिपुराणेतिहासनिगदित(द्) आदि-प्रसिद्धि (प्रसिद्ध) वैश्यवर्णाणाध्यवर्णाद्भूनागरउरूजनैश्यत्व(त्व)र्वावेश्यवशालावीदा-हरणापरिचित किरोध्वजगुहयानन्दकमलावालुवंशनिर्णयो नाम दशमो ध्याय: ॥"

• प्रस्तुत ग्रन्थ मल्लिनाथ के कालनिर्धारण में बहुत सहायक है। श्रीवीर-प्रतापप्रौढदेव महाराज ने "वैश्यवंशसुधाकर" ग्रन्थ को प्रकाश में लाने के लिए आज्ञा दी थी। जैसा कि ग्रन्थ से दिया गया उद्धरण इस बात को प्रमाणित करता है:–

" इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवीरप्रतापप्रौढदेव महारायेण विज्ञापितम्। आज्ञा-पनानन्तरं तच्छासनमाननीयत्वपष्टे (पृष्ठे) तद्गुच्छान्तेनैव विजानगरपालिनप्रकारो यम।"

यह राजा देवराय द्वितीय थे जिनका शासनकाल १४२२ ई० से लेकर १४४६ ई० के मध्य था।[2]

प्रो० शास्त्रीजी भी मल्लिनाथ का समय १४ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १५ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं।[3]

---

१. History of Sanskrit Literature.
२. Mysore Arch. Rep. 1927, Page 26
३. O. P. cit. P. XVIII, Vide PP. XVIII XX for further details.

मल्लिनाथ ने 'नैषधीयचरितम्' की अपनी 'जीवातु' टीका में ८८ स्थलों पर मेदिनीकोष को उद्धृत किया है।[1] मेदिनीकोष का समय १५ वीं शताब्दी माना जाता है।[2] मेदिनीकार ने भूमिका में माधव का उल्लेख किया है। यदि ये माधव महान् बुक्क और हरिहर के मंत्री रहे होंगे तो मेदिनी के प्रणयन का काल १३९० ई० अवश्य होना चाहिए।[3]

अतः मेदिनीकोष को उद्धृत करने वाले मल्लिनाथ का समय १५ वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

ऊपर उक्त सभी मतों का पर्यालोचन भी टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ सूरि को १५ वीं शताब्दी के मध्य में रखने को बाध्य करता है।

---

१. नैषध- १०/७९, ११/३४, ४०, ७५, ८५, ९७, १२/१०, ५८, ८५, ८६, १३/९, ९, १०, १२, १५, १७, २३, ३६, १४/३१, ७९, १५/५४, १६/११, ३७, ४८, ६७, ७२, ८६, १११, १२७, १७/५, १६, १४३, १५५, १७३, १८/१५, १८, ३३, ६८, ८४, १२९, १९/८, ५२, ५२, ६१, २०/२१, १०२, १४७, २१/८, २१, ११८.

२. R. G. Bhandarkar's Introduction to Malti-Madhava.

३. Journal B.B.R.A.S. Vol. IV, Page 107, The Date of Madhava grant is 1313 Saka i.e. 1391 A.D.

अध्याय--२

मल्लिनाथ का कृतित्व--

कोलाचल मल्लिनाथ सूरि अनेक शास्त्रों के धुरन्धर विद्वान् थे। "पेद्दभट्ट" और "महोपाध्याय" उपाधियों से ही हम उनकी विद्वता एवं गौरव-गरिमा को माप कर सकते हैं। निम्नलिखित श्लोक से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है :--

"वाणीं काणभुजीमजीगणदवासासीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत्
वाचामाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोके भूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः"

अर्थात् जिसने कणाद् की वाणी को गिन लिया, व्यास की वाणी का उपदेश किया, तन्त्र के मध्य में रमण किया, जो पतंजलि के वाणीसंघात में जागता रहा, जिसने अक्षपाद गौतम से स्फुरित वाणी के रहस्य का आकलन किया, जिसके बाद ही संसार में विद्वानों की सुजनता का यश भी जाना गया --ऐसा था मल्लिनाथ कवि।

मल्लिनाथ ने "नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते" इस सिद्धान्त को आधार मान करके अनेक काव्यों एवं दर्शनग्रन्थों की व्याख्या की।

निम्नलिखित महाकाव्यों एवं काव्यों पर मल्लिनाथ की टीकाएं उपलब्ध हैं जिनको कि सभी सुधीजन मल्लिनाथ कृत ही मानते हैं :--

(१) रघुवंश संजीवनी
(२) कुमारसंभव संजीवनी
(३) मेघदूतम् संजीवनी
(४) किरातार्जुनीयम् घण्टापथ
(५) शिशुपालवधम् सर्वंकषा

(६) नैषधीयचरितम्   जीवातु

(७) भट्टिकाव्यम्   सर्वपथीना

(८) एकावली   तरल

इनके अतिरिक्त कुछ लोग निम्नलिखित ग्रन्थों को मल्लिनाथ कृत मानने में असम्मति प्रकट करते हैं —

(१) तन्त्रवार्तिक रक्षा-टीका-उद्धरण

(२) स्वरमंजरी   परिमल

(३) तार्किकरक्षा-टीका निष्कण्टिका

(४) प्रशस्तभाष्य टीका

(५) रघुवीर चरित

(६) उदारकाव्य

(७) वैश्यवंशसुधाकर

(१) तन्त्रवार्तिक रक्षा टीका का उल्लेख स्वयं मल्लिनाथ ने एकावली पर अपनी 'तरल' नामक टीका के १५२ पृष्ठ पर किया है।[1] इसके साथ ही साथ विद्यानाथ की 'प्रतापरुद्रयशोभूषणम्' टीका लिखने वाले मल्लिनाथ के पुत्र कुमार स्वामिन ने अपनी 'रत्नापण' टीका में किया है।[2] अतः निस्संदेह तन्त्रवार्तिक रक्षा पर मल्लिनाथ की टीका है।

(२) "स्वरमंजरीपरिमल" का उल्लेख मल्लिनाथ ने स्वयं तरल टीका में किया है। यथा — "तदेतत् सम्यक् प्रपंचितमस्माभिः स्वरमंजरीपरिमल टीकायाम्" पृष्ठ ५६ ।

(३) निष्कण्टिका (तार्किक रक्षा टीका) में इसका उल्लेख मल्लिनाथ ने किया है "विस्तरस्तत्रास्मत्प्रणीतप्रशस्तभाष्य टीकायाम् द्रष्टव्यः ।"

---

१. "तदेतत्सम्यगस्माभिः प्रपञ्चितम् अस्माभिस्तन्त्रवार्तिक टीकायां वाक्यार्थाधिकरणे ।"

पृष्ठ १५२

२. तदुक्तं तातपादैरेकावलीतरले तन्त्रवार्तिक व्याख्याने विद्वांसो च - स्थापितव्याने समानेऽपि सह तेनान्यलक्षणा । प्रत्ययमतद्व्याख्याविद्वत्स्वामी कृतोक्ता ॥

रघुवीरचरित का उल्लेख आफ्रेट महोदय ने कैटलागस कैटलागोरम में किया है । तरल में भी यही पद्य उद्धृत है ।[1] उस पद्य से संकेत मिलता है कि यह पद्य रघुवीरचरित का ही है । त्रिवेन्द्रम से भी गणपति शास्त्री महोदय ने कुछ पृष्ठों की इसकी पाण्डुलिपि प्राप्त की है ।

डा० आफ्रेट महोदय ने "अमरपदपारिजात" और अमरकोश की टीकाओं का उल्लेख किया है तथा "गवर्नमेन्ट लाइब्रेरी औरियन्टल मद्रास" में इन दोनों पुस्तकों की पाण्डुलिपियों को रखी हुई बताया है । लेकिन इन पाण्डुलिपियों की प्रतियों में कोई साम्य नहीं तथा उसमें लिखी गई प्रारम्भिक कविताओं को पढ़ने पर ज्ञात होता है कि इन श्लोकों का कर्ता कोई दूसरा मल्लिनाथ रहा होगा । सम्भवतः इन श्लोकों के कर्ता कोलाचल मल्लिनाथ न हो करके काव्य-प्रकाश की "बालचित्तानुरंजनी टीका लिखने वाले सरस्वतीतीर्थ थे । इन सरस्वती तीर्थ का ही नाम नरहरि था । ये मल्लिनाथ वत्सकुल में जन्मलेने वाले नरसिंह भट्ट के पुत्र थे । नरहरि ही बाद में सरस्वतीतीर्थ के नाम से विख्यात हुए और काव्यप्रकाश पर "बालचित्तानुरंजनी नामक टीका लिखी ।[2]

काव्यप्रकाश की टीका पर बालचित्तानुरंजनी में प्रारम्भिक कवितायें इस प्रकार की हैं —

वाक्कण्ठीरवमती वारणानामिववारणीव
पुरितामिभवरैव जिह्वीवास्यवदंमकस्यैवै
उन्नतानुन्नतानिरुन्धाविन्तनकलांटहूकांक्षमैः परा-
माशोष्यानरभोव्यमारिक मुखान् ग्रन्थान् बहूनाराणु
व्याचष्टेऽमरसिंहनामक महं श्रीवत्सगोत्रोद्भवो ।।

श्रीरङ्गनाथपादकमलम्भृङ्ग सूरिरसौ श्रीमल्लिनाथाभिधः ।।

---

1. इतीव मतीरमुदीति चात्याती यथा बन्धपीयश्लोके चन्द्रोपयपाणि
   निशाकरकरस्पर्शाभिसया निभृतात्मना
   कोषसम्भावयी भाषाः व्यज्यन्ती रज्यमानया ।।" तरल- पृष्ठ २२-२३
2. वामनाचार्य की काव्यप्रकाश की भूमिका से

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वैश्यवंश सुधाकर' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ का उल्लेख डा० वी० राघवन् महोदय ने किया है।[1] यह ग्रन्थ आन्ध्रभाषा में लिखा गया है। मल्लिनाथ के काल निर्धारण में इस ग्रन्थ की विस्तृत व्याख्या की गई है।

<u>टीकाओं का पौर्वापर्य:</u> –

संस्कृत साहित्य में ही नहीं अपितु समग्र संस्कृत वाङ्मय में टीकाओं का सर्वाधिक महत्त्व है क्योंकि टीका तथा भाष्य के द्वारा मूल पाठके अर्थ को स्पष्टत: समझने में सहायता मिलती है।

संस्कृत काव्य साहित्य में टीका लिखने वालों में मल्लिनाथ 'सूरि' का स्थान सर्वोपरि है। मल्लिनाथ ने लघुत्रयी और बृहत्त्रयी के अतिरिक्त भट्टिकाव्य, विद्याधर की एकावली, स्वरमंजरी, परिमल, तन्त्रवार्तिक, रक्षा टीका एवं अन्य ग्रन्थों पर भी टीकायें लिखी हैं। टीका लिखने की परम्परा मल्लिनाथ के पहले से ही प्रचलित थी क्योंकि स्वयं इन्होंने भी रघुवंश की टीका के प्रारम्भ में 'दक्षिणा-वर्तनाथाद्यै:' ऐसा लिखकर अपने पूर्ववर्ती दक्षिणावर्तनाथ के प्रति आदर प्रकट किया है।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में सबसे पहले किस काव्य पर टीका लिखना प्रारम्भ किया होगा? इसका निर्णय मल्लि-नाथ की टीकाओं के सम्यक् विवेचन एवं अवलोकन से ही किया जा सकता है।

(१) शिशुपालवध की 'सर्वङ्कषा' टीका में १६–२७ श्लोक पर 'निरिन्धनै:' शब्द पर व्याख्या लिखते समय मल्लिनाथ ने काटापन की टीका का उल्लेख किया है। यथा –'निरिन्धनै: – धौर्धूमितनिरग्नी:, अन्यत्र निरिन्धन तत्त्वै: । तकलिकादपि

---

१. Catalogue of Sanskrit mss. Page 563, Government Library in Mysore.

(४) रघुवंश की संजीवनी टीका का उल्लेख मल्लिनाथ ने किरातार्जुनीयम् की अपनी टीका घण्टापथ (८।७६) में उल्लेख किया है। देखिये :-

"वर्णाश्रमेण तस्य विधानात्" प्रमाणानां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः "इति सूत्रकारवचनात् ब्रह्मचर्यस्यापि वैकल्पिकत्वात् तदेतत् सम्यक् विवेचितम् अस्माभिः रघुवंशसंजीविन्याम् (८।१४)

(५) भट्टिकाव्य की "सर्वपथीना" टीका में अनेक स्थलों पर मल्लि० ने घण्टा-पथ की टीका का उल्लेख किया है। जैसे १४-५४ श्लोक (भट्टिकाव्य १४-५४) "स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः" इस श्लोक की टीका लिखते समय मल्लि० लिखते हैं — "अभिवादिदृशोरात्मनेपदम् उपसंख्यानादणौ कर्तुश्च कर्मत्वम्" एतत् अस्माभिः घण्टा-पथे सम्यक् विवेचितम्।

अतः सिद्ध होता है कि घण्टापथ की टीका लिखने के बाद मल्लिनाथ ने भट्टिकाव्य पर टीका लिखी होगी।

(६) इसी प्रकार से भट्टिकाव्य (१-२६) में मल्लिनाथ ने रघुवंश की संजीवनी का उल्लेख किया है।

(७) मल्लिनाथ ने नैषधीयचरितम् की "जीवातु" टीका के ५-७१ में "किराता-र्जुनीयम्" की घण्टापथ और (८।११) कुमारसम्भव की संजीवनी टीका का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि किरातार्जुनीय की घण्टापथ और कुमारसम्भव की संजीवनी टीका जीवातु टीका के पहले लिखी गयी होगी।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि मल्लिनाथ ने सर्वप्रथम संजीवनीत्रय पर टीका लिखने का कार्य प्रारम्भ किया। तदनन्तर घण्टापथ (किरातार्जुनीयम् की टीका) पर टीका लिखा। क्योंकि रघुवंश की "संजीवनी" टीका का उल्लेख मल्लिनाथ ने किरातार्जुनीय ११।७६) में किया है यथा -- वर्णाश्रमेण विधानात् "प्रमाणानां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः" इति सूत्रकारवचनात् ब्रह्मचर्यस्यापि वैकल्पिकत्वात्" तदेतत् सम्यक् विवेचितम् अस्माभिः रघुवंशसंजीविन्याम् ।।

"घण्टापथ" टीका लिखने के बाद शिशुपालवध पर सर्वंकषा टीका लिखी होगी जैसा कि शिशुपालवध १६।७७ में "निश्चितैः" शब्द पर व्याख्या लिखते समय

में कुमारस्वामिन् ने सिद्धांजन टीका का उल्लेख किया है यथा —तदुक्तं तातपादै-रेकावली तरले तन्त्रवार्तिकसिद्धांजने च —स्वार्थत्यागे समाने पि तत्र नैनान्य-लक्षणा । यष्टीः प्रवेशयेत्यादौ नष्टस्वार्था तु तं विना ।"

रसमंजरी—परिमल टीका का उल्लेख एकावली की तरल टीका में किया गया है ।[1] अतः परिमल टीका तरल से पहले ही लिखी गयी होगी ।

प्रशस्तभाष्य-टीका का उल्लेख तार्किक रक्षा पर लिखी गयी निष्कण्टिका में किया गया है ।[2]

मल्लिनाथ की विलक्षण प्रतिभा से संस्कृत-टीका-साहित्य पर अमिट छाप पड़ी जिससे ही इस स्वस्थ टीका-परम्परा का प्रारम्भ एवं विकसित रूप सम्भव सका है । अपनी तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा के चमत्कार से टीकाकारों के लिए सुलभ मार्ग प्रदान करने वाले कोलाचल मल्लिनाथ सूरि ने सर्वप्रथम अलंकार-शास्त्र पर लिखित एकावली पर तरल टीका का प्रणयन-कार्य किया होगा तदनन्तर काव्य साहित्य पर टीका लिखी । उसके प्रमाण मेघदूत की संजीवनी, किरातार्जुनीयम् की घण्टापथ और शिशुपाल-वध की सर्वंकषा टीकाओं से मिलते हैं ।

"मेघदूतम्" के "देवपूर्वं गिरिम्" शब्द पर टीका लिखते समय मल्लिनाथ ने एकावली —"तरल" को उद्धृत किया है । यथा —

"देवपूर्वं गिरिमित्यत्र देवपूर्वत्वं गिरिशब्दस्य मतुबन्तस्तदर्थस्येति संज्ञायाः संज्ञित्वाभावादवाच्यवचनं दोषमाहुरालंकारिकाः । तदुक्तमेकावल्याम् —"यत्राच्यस्य वच-नमवाच्यवचनं हि तत्" इति । समाधानं तु देवशब्दविशेषितेन गिरिशब्देन शब्द-

---

१. तदेतत् सर्वं प्रपञ्चितमस्माभिः रसमंजरी-परिमल-टीकायाम्, पृष्ठ ५६

२. विस्तारस्तावदस्माभिः अस्मत्कृतप्रशस्तभाष्यटीकायां द्रष्टव्यः ।

परेतार्थी मैदोपशमनवीरन्सी दैत्यगिरिरुक्ता इति कश्चित् संपाम् ॥"

किरातार्जुनीय ४।३८ और १८।४४ में भी अवाच्यवचनदोष मल्लिनाथ ने दिखाया है। किरातार्जुनीय (१८।४४) "इतीतिनिगदितवन्तं सूनुमुच्चैर्मघोनः" — पर मल्लिनाथ लिखते हैं —"अनुचितपदत्वं वेदव्यस्य गतुसंशिनस्तदर्थस्येति संज्ञायाः सं-शिततस्यागवाद्यवाच्यवचनदोष माधुरालंकारिकाः। तदुक्तम् :—"यदवाच्यवचन-मवाच्यवचनं हि तत्" इति। समाधाने तु अनुः शब्द विशेषितेनवैराग्येन शब्दपरे-शीलत्वं : परोपदिश्योक्तौ अनुवेधो दृश्यः ॥"

सर्वंकषा टीका लिखते समय मल्लिनाथ ने १।४२ में 'हिरण्यपूर्वं कशिपुं' में ~~[illegible]~~ अवाच्य वचनदोष दिखाया है।[1]

इस प्रकार पूर्वोक्त ऊहापोह का निष्कर्ष यह निकला कि पौर्वापर्य की दृष्टि से मल्लिनाथ की टीका रचना का क्रम इस प्रकार रहा होगा :—

(१) तन्त्रवार्तिक रक्षा-टीका - सिद्धाञ्जन

(२) अमरमंजरी - परिमल टीका

(३) प्रशस्तभाष्य-टीका

(४) तार्किकरक्षा पर निष्कण्टका-टीका

(५) एकावली पर तरल टीका

(६) संजीवनियाँ —

रघुवंश की संजीवनी

मेघदूत की संजीवनी

कुमारसम्भव की संजीवनी

किरातार्जुनीय पर घण्टापथ

शिशुपालवध पर सर्वंकषा

भट्टिकाव्य पर सर्वपथीना

नैषधीयचरित पर जीवातु

---

१. "अत्र हिरण्यशब्दपूर्वत्वं कशिपुशब्दस्यैव न तु संशितस्तदर्थस्येति शब्दपरस्य कशिपु-शब्दस्यार्थे गतत्वेनाप्रयोज्यस्य प्रयोगादवाच्यवचनाख्यार्थदोषमाहुः ।

—यदवाच्यवचनम्

कुमारसम्भव पर मल्लिनाथ की टीका एवं सर्गों का निर्धारण :-

कालिदास के कुमारसम्भवनामक महाकाव्य पर मल्लिनाथ की टीका केवल अष्टमसर्ग पर्यन्त ही उपलब्ध होती है । सम्पूर्णग्रन्थ पर नहीं । यहाँ पर यह शंकायें होना स्वाभाविक है । क्या मल्लिनाथ ने अधूरी टीका लिखकर ही ग्रन्थ को छोड़ दिया अथवा मल्लिनाथ के समय तक कुमारसंभव ग्रन्थ का कलेवर अष्टमसर्ग पर्यन्त ही था ?

यह भी सर्वविदित है कि कुमारसम्भव के सर्गों के निर्धारण के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । कीथ जैसे महान पाश्चात्य विद्वानों के लिए भी कुमारसम्भव के सर्गों का निर्धारण एक जटिल समस्या बना हुआ था ।

कुमारसम्भव का शाब्दिक अर्थ होता है कुमार की उत्पत्ति । इसको पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह कालिदास के प्रौढ़ावस्था की कृति है । कुमारसम्भव काव्य के सम्प्रति उपलब्ध आठ सर्ग ही कालिदास द्वारा लिखित बताये जाते हैं । यदि हम इस काव्य को अष्टमसर्ग तक पढ़ें तो कुमार की उत्पत्ति तो होती ही नहीं और काव्य का नामकरण असंगत सा प्रतीत हो जाता है क्योंकि बिना कुमार की उत्पत्ति कराये ही काव्य नहीं लिखा जाना चाहिए । यद्यपि कालिदास ने स्वयं अपने समस्त काव्यों एवं नाटकों का कथावस्तु के आधार पर ही नामकरण किया है । रघुवंश महाकाव्य में कालिदास ने रघुकुल के सभी राजाओं का वर्णन किया है ।[1] इसी प्रकार से "मेघदूत" नामक खण्डकाव्य में मेघ को ही दूत बनाकर यक्ष प्राणप्यारी के पास अपने विषय में संदेश भेजवाता है । इसीतरह अन्य सभी नाटकों में भी वर्णित कथावस्तु के आधार पर ही उनकी संज्ञा की गयी है । जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल और मालविकाग्निमित्र में ।[2]

---

१. "रघूणामन्वयं वक्ष्ये"

२. कुम्भराज

कुमारसंभव के अष्टमसर्ग के अन्तिम श्लोक —

> 'समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शंभोः
> शतमगमदृतूनां साग्रमेका निशेव ।
> न तु सुरतसुखेषु छिन्नतृष्णो बभूव
> ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः ॥'

को पढ़ने पर ज्ञात होता है कि कालिदास किसी भी काव्य का अन्त इस प्रकार से नहीं कर सकते हैं। इस श्लोक में शिव और पार्वती के संभोग शृंगार का वर्णन किया गया है। इसे पढ़ने पर तो सहृदयों को आगे की कथा को जानने अथवा सुनने की जिज्ञासा बढ़ जाती है। यदि कोई सहृदय पाठक तथा श्रोता की इच्छा को सन्तुष्ट नहीं कर पाता है तो वह असफल समझा जाता है। किन्तु कालिदास तो अपने परवर्ती तथा समकालीन सभी कवियों एवं लेखकों के लिए आदर्श रहे हैं।

इस दृष्टि से तो कुमारसंभव काव्य का नामकरण 'तारकवधम्' अथवा 'शिव-पार्वती प्रणयम्' ऐसा कुछ होना चाहिए क्योंकि काव्य में जो साध्य है उसी के अनुसार ही काव्य की संज्ञा होती है जैसे :- युधिष्ठिर विजय, जानकी हरण, शिशुपालवध आदि काव्यों में है।[1]

'ननु काव्ये यत्साध्यं तदनुसारेणैव काव्यस्य संज्ञा कर्तव्या । यथा जानकी हरण शिशुपालवधादीनाम् । अत्र तु तारकासुरनिग्रहः काव्ये साध्यतया निर्दिष्टः 'तस्मिन् विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः' इत्युपक्रमात् । तस्मात् तारकवधे इत्येवंसंज्ञा कर्तव्या । तत्पर्यन्तं च काव्यं प्रवर्तयितव्यम् । न चैवं कृतम् । तस्माद-स्यानुचितमिदं काव्यम् कृतम् । अपि च कुमारोत्पत्तिपर्यन्तमपि न काव्यं कृतम् । तस्मा-दनुचितमिदं नामधेयमिति ।'

कुमारसंभव के द्वितीय सर्ग में सभी देवगण तारकासुर राक्षस से पीड़ित होकर ब्रह्मा के पास जाते हैं। ब्रह्मा ने देवताओं से कहा कि शिव और पार्वती से उत्पन्न पुत्र निश्चय ही उसी राक्षस का नाश करेगा किन्तु अष्टम सर्ग तक यह

---

१. नारायण पण्डित की विवरण की टीका से

ज्ञात घटित नहीं होती है। अतः कुमारसंभव में आठ सर्गों के अतिरिक्त और सर्ग होने चाहिए जिससे कि पूरी कथा तथा कुमारसंभव नाम की सार्थकता सिद्ध हो। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रति अनुपलब्ध आठ सर्गों के अतिरिक्त अन्य सर्ग कालिदास के द्वारा अवश्य लिखे रहे होंगे।[1]

कुमारसम्भव, रघुवंश से पहले लिखा गया है इसे आगे बताया जायेगा। रघुवंश में कालिदास ने कुछ ऐसी घटनाओं का संकेत किया है जो कि कुमारसंभव से सम्बद्ध हैं। रघुवंश के प्रारम्भ में कालिदास ने उमावानवीर कार्तिकेय के माता-पिता जो अर्धनारीश्वर के रूप में हैं तथा संसार के माता-पिता के रूप में माने जाते हैं, की वन्दना की है। पुनश्च कालिदास ने कुमारसम्भव की कथा को ही रघुवंश में भी लिखा है। इसके अतिरिक्त रघुवंश के छठे सर्ग के द्वितीय तथा सप्तम सर्ग के १५ वें श्लोकों में कुमारसंभव में वर्णित कामदेव एवं रति का वर्णन किया गया है।

युवराज अज को "कामदेव" तथा इन्दुमती को "रति" कहा गया है। जब अज और इन्दुमती का विवाह हो गया तथा वे विवाहोत्सव के लिए नगर में प्रवेश करने लगे तो उनके सौन्दर्य को देखकर नगर-निवासियों ने कहा कि यह निःसन्देह ही "कामदेव और रति" हैं।

कालिदास ने आठ सर्गों तक ही कुमारसम्भव को लिखा इसका प्रमुख प्रमाण यह बताया जाता है कि मल्लिनाथ ने केवल आठ सर्गों पर ही टीका लिखी है। किन्तु सीताराम नामक किसी कवि ने कुमारसंभव के केवल सात सर्गों तक ही मल्लिनाथ की टीका का उल्लेख किया है।[2] कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग पर

---

१. कुमारसम्भव -

२. टीका सम्यक् मल्लिनाथ कृतिना संजीवनी संज्ञिता
सर्गेषु कुमारसंभवमहाकाव्यस्य कोद्भुरा
तैनातुर्ध्वमितष्टाविंश-प्रमित सत्सर्ग व्याख्यामुदे
सीतारामकवीश्वरेण कि यथा प्राक् समापूर्ण से ॥

मल्लिनाथी टीका तक भी उपलब्ध है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि सीताराम ने अष्टम सर्ग पर लिखी गयी मल्लिनाथ की टीका का उल्लेख नहीं किया ? ऐसा प्रतीत होता है कि आठवें सर्ग पर लिखी गयी टीका को सीताराम नामक कवि ने अन्य किसी मल्लिनाथ कृत समझ लिया है।

भ्रुनारायण की भी टीका कुमारसंभव के आठ सर्गों पर ही लिखी गयी है। अतः ऐसा सिद्ध होता है कि कालिदास ने कुमारसंभव को आठसर्गों तक ही लिखकर छोड़ दिया है।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् 'वेबर' ने तो कुमारसंभव के सात सर्गों को ही कालिदास द्वारा प्रणीत माना है।[1]

यदि हम सीताराम और वेबर महोदय के उस मत को मान लें कि कालिदास के द्वारा कुमारसंभव के ७ सर्ग ही लिखे गये तो यह असंगत होगा क्योंकि साहित्यदर्पणकार का "नाति स्वल्पा नाति दीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह"।[2] यह महाकाव्य का लक्षण कुमारसंभव पर अव्याप्त होगा। इस प्रकार कुमारसम्भव का महाकाव्यत्व भी असत्य एवं अमान्य हो जायेगा जो कि सर्वथा असम्भव है। अतः कुमारसंभव में आठ सर्ग से कम नहीं होने चाहिए।

दूसरे ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के ३।५ में कुमारसंभव के अष्टम सर्ग के ८।१८ श्लोक को पितृसंभोगवर्णन के रूप में उद्धृत किया है। यह श्लोक इस प्रकार है :-

दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुत ।
शीतलेन निरवापयत्क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः ॥

आचार्य मम्मट ने भी कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग के अठारहवें श्लोक को लक्ष्य करके उत्तमदेवता विषयक संभोगश्रृंगार रूपी रति को पितृसंभोगवर्णन के समान

---

१. To the seven books of the Kumar. Sambhava, which were the only ones previously known, ten others have recently been added. (The History of Indian Literature vol. III, Page - 195)

अनौचित्यपूर्ण बतलाया है । यथा — अथ अङ्गरसस्य दीप्तिः पुनः पुनः यथा कुमारसंभवे रतिविलापे " इसी प्रकरण में आगे भी लिखते हैं — "किन्तु रतिः संभोगशृंगाररूपा उत्तमदेवता विषया न वर्णनीया । तद् वर्णनं हि पित्रोः संभोग-वर्णनमिवात्यन्तमनुचितम् ।"

शिव और पार्वती का रतिवर्णन उत्तमदेवता विषयक ही है । सम्भवतः संस्कृत-काव्यों में शिव और पार्वती के संभोग-वर्णन के अतिरिक्त अन्य किसी भी उत्तम देवता के संभोग शृंगार का वर्णन नहीं हुआ है । शिव और पार्वती के रति का वर्णन अनौचित्यपूर्ण ही है । महाकवि कालिदास ने भी शिव और पार्वती को संसार का माता और पिता के रूप में माना है ।[1]

इसी अनौचित्य का व्याख्यान करते हुए मम्मट के टीकाकार भी कुमार-सम्भव के आठवें सर्ग के १८ वें श्लोक को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं ।

कालिदास ने कुमारसंभव के आठ सर्गों की ही रचना की और कुमार-सम्भव संज्ञा इसकी उपयुक्त है, 'तारकवध' नहीं क्योंकि 'तारकवध' इसमें साध्यरूप से वर्णित नहीं है । कारण यह है कि देवताओं ने तो ब्रह्मा से केवल कुमारोत्पत्ति की ही प्रार्थना की थी ।[2] तारकासुर का निग्रह तो केवल कुमारोत्पत्ति की प्रस्तावना के कारण अपेक्षित था, जैसे कि — 'किरातार्जुनीय' में दुर्योधनवध । अतः कुमार-सम्भवसंज्ञा उपयुक्त है ।[3]

यदि कोई यह शङ्का करे कि कुमारोत्पत्तिपर्यन्त काव्य का निर्वाह होना चाहिए तो यह भी असंगत होगा क्योंकि शिव का पार्वती के द्वारा विवा-

---

१. रघुवंश – १।१

२. तदिच्छामो विभो । सृष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये ।
   कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः ॥ कुमारसंभव २।५१

३. उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः ।
   शंभोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत् ॥ कु० २।५६

कर्षणमात्र ही परम साध्य है । क्योंकि कारण के रहने पर कार्य का होना आवश्यक है । जब शिव का पार्वती ने चित्ताकर्षण किया तो कुमारोत्पत्तिरूपी कार्य अवश्यम्भावी है । शिव का चित्ताकर्षण पुनः आठवें सर्ग में विस्तारपूर्वक वर्णित है । यथा :-

> समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शम्भोः
> शतमगमदृतूनां साग्रमेका निशेव
> न तु सुरतसुखेषु छिन्नतृष्णो बभूव
> ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः ॥

पुनः पंचम सर्ग के अन्त में शिव ने पार्वती से कहा कि :- हे देवि ! आज से मैं तुम्हारा क्रीतदास हो गया हूँ ।[1]

नारायण पण्डित ने पार्वती के द्वारा शिव का आकर्षण होने के कारण, इसी को ही प्रधान तात्पर्य माना है । यथा :- "उक्तं च पंचमसर्गान्ते देवीं प्रति देवेन "अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति" । तस्मात् उमाकर्षणं - "इत्युपक्रमात्" अद्यप्रभृति इति "पर्यन्तात्" "समदिवसनिशीथम्" इत्युपसंहाराच्च शैवीचित्ताकर्षणं नाम एव तात्पर्यम् "उपक्रमोपसंहाराभ्यासो - पूर्वता फलम् । "अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये" इति वचनात् । तच्च सम्यक्प्रतिपादितम् ।"[2]

अष्टम सर्ग में संभोगवर्णन से ही कुमारोत्पत्ति बीजरूप में निहित हो जाती है । यदि पूर्वपक्षी यह तर्क प्रस्तुत करें कि तारकासुरविजयपर्यन्त लिखा गया यह काव्य संभोग वर्णन से कुपित पार्वती के शाप के कारण अपूर्ण रह गया है, यह भी असंगत है । देवी के शाप का भाव पुनः अष्टम सर्ग के आदि में भली-भाँति वर्णित है । इस सम्बन्ध में विवरणकार का भी यह कथन है कि :-

---

१. "अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति"
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास - कृष्णमाचारी

"पार्वती और परमेश्वर का शरीरधारण करना भी लोकानुग्रह के लिए ही है जैसा कि भगवान ने स्वयं कहा है :—

"पिपर्ति श्री यथा स्थाणोः न मे कश्चिद् प्रयोजनः"

इसीप्रकार देवी का भी शरीरग्रहण करना लोकानुग्रह के लिए ही है । ऐसा देवीमाहात्म्य में सम्यक् प्रतिपादित है । इस संसार में तीन प्रकार के लोग रहते हैं —(१) मुक्त (२) मुमुक्षु (३) आसक्त ।

आदिकवि वाल्मीकि के अनुयायी महाकवि कालिदास ने कुमारसंभव को आठ सर्ग तक ही लिखा है इसका पुष्ट प्रमाण यह है कि वाल्मीकि मुनि ने रामायण में "राम और सीता" के विवाह के प्रकरण में कहीं पर भी अश्लील शृंगार रस को स्थान नहीं दिया है ।

कुमारसम्भव कालिदास के प्रौढ़ावस्था की कृति है और शायद इसीलिए कालिदास ने शिव और पार्वती के संभोग शृंगार का वर्णन किया है । किन्तु जब कवि को यह ज्ञात हुआ कि उसने जगज्जननी पार्वती और जगत्पिता शिव का सम्भोग-शृंगार-वर्णन करके महान् असाध्य अपराध कर डाला है तो उसने (कालिदास ने) अपनी लेखनी बन्द कर दी होगी और संभवतः इसीकारण कालिदास ने अष्टमसर्ग के बाद कुछ भी कुमारसम्भव में नहीं लिखा । कुमारसम्भव के बाद कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य की रचना प्रारम्भ कर दी ।

रघुवंश के आदि में ही उन्होंने शिव-पार्वती की स्तुति के व्यपदेश से मानों अपने अपराध की क्षमा-याचना की है ।[१]

—

---

१. रघुवंश — १।१ वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

अध्याय — ३

संस्कृत में टीका-साहित्य, उसकी विभिन्न विधायें

संस्कृत-साहित्य में टीकाओं का सर्वाधिक महत्त्व है । टीका और भाष्य ये दो साधन मूल पाठ के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं । वैदिक एवं लौकिक संस्कृत का विषय इतना गम्भीर और पारिभाषिक है कि व्याख्यानात्मक साहित्य के बिना उसे समझ सकना बड़ा कठिन है । पाठभेद, पाठों की विभिन्नता तथा अनेक गुरु सम्प्रदायों के विस्मृत एवं लुप्त हो जाने के कारण यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है । टीकाकारों ने प्रायः इस ओर स्थान-स्थान पर संकेत भी किये हैं ।

अब यहाँ पर टीका शब्द की व्युत्पत्ति और तदनन्तर टीका तथा भाष्य के अन्तर को समझ लेना आवश्यक ही नहीं अपितु प्रसंगानुकूल भी प्रतीत होता है ।

टीका शब्द की व्युत्पत्ति 'टीक्+भ्वा०गत्याम्' धातु से घञर्थे 'क' प्रत्यय तथा स्त्रियां टाप् लगाकर हुई ।[1] जिस साधन के द्वारा सूक्ष्म और कठिन ग्रन्थ के अर्थ का बोध हो, उसे टीका कहते हैं ।[1] 'वाचस्पत्यम्' शब्दकोश में 'टीक् गतौ+भ्वा०आत्म०सक०सेट्' इस प्रकार टीका की निष्पत्ति की गयी है । इसी कोश के अन्तर्गत उदाहरण सहित टीका का अर्थ विषमपदों की व्याख्या के रूप में लिया गया है ।[2]

---

1. आप्टे का शब्दकोश, भाग २
2. टीक गतौ भ्वा०आत्म०सक०सेट् टीकते, अटीकिष्ट, टीका — स्त्री टीक्यते ग्रन्थार्थोऽनया । टीक् करणे 'घञ्' घञर्थे क वा । विषमपद व्याख्या-रूपे ग्रन्थभेदे ।

संस्कृत में सभी गत्यर्थक धातुओं का अर्थ समझने के अर्थ में भी होता है, जैसे — अवु और गमु इत्यादि ।

संस्कृत-साहित्य में टीका में मूलपाठ के शब्दों और वाक्यांशों के पर्याय-वाची शब्द को देकर के गूढ़ अर्थों, अलंकारों, व्याकरण तथा इतिहास सम्बन्धी निर्देशों का स्पष्टीकरण किया जाता है । लेकिन भाष्य में टीका के इन उक्त कार्यों के साथ ही साथ विषय विवेचन करते समय पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष देकर प्रत्येक स्थल पर खंडनात्मक और मंडनात्मक शैली से शास्त्रार्थ की विधा को भी देखा जा सकता है । इसके साथ ही साथ अन्य सिद्धान्तावलम्बियों के सिद्धान्तों का भी निर्देश भी रहता है तथा विवादास्पद पदों एवं वाक्यों के ऊपर भाष्यकार अपना मत भी व्यक्त करते हैं जैसा कि इन श्लोकों में कहा गया है :—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र, वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥[1]

संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः ।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ॥[2]

पाली-साहित्य की टीकाओं में (अर्थकथाओं) संस्कृत साहित्य की टीका और भाष्य के इन सारे गुणों के साथ-साथ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देने की भी विशेषता है जो कि संस्कृत साहित्य के भाष्यों में नहीं पायी होती है ।[3] संस्कृत साहित्य की टीकाओं और भाष्यों में किसी सिद्धान्त के बारे में पूछने पर कि इस सिद्धान्त को किसने बनाया है, क्यों निकाला और किस समय निकाला था आदि ये सभी बातें कम मालूम होती है । पाठक की जिज्ञासा शान्त न होकर बनी ही रहती है क्योंकि इसको "इत्यपरः" कह कर ही छोड़ दिया जाता है ।

---

१. शब्दकल्पद्रुम की इति हिंसानुसारटीकायां भरतः ।

२. शिशुपालवधकाव्य सर्ग २

३. डा० भरत सिंह , पाली-साहित्य का इतिहास ।

टीकाओं में प्रकरणप्राप्त राजाओं, नगरों, पर्वतों, विहारों, नदी, वन और तालाबों आदि का ऐतिहासिक परिचय मिलता है। संस्कृत साहित्य की व्याख्याओं और टीकाओं में दिये गये ब्यौरों में देश और जनता की तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ तथा रीतिरिवाज पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित हैं। संस्कृत की टीकाओं में टीकाकार या व्याख्याकार शब्दों और पदों की व्याख्या मूल पाठ के आधार पर ही करते हैं। लेकिन किसी शब्द को स्पष्ट करने के लिये अपना भी विचार प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक टीकाकार या व्याख्याकार की रुचि है मौलिक पाठ की ओर अधिक प्रयत्नशील रहना पड़ता है।

सूत्र, व्याख्या, टीका और वृत्ति आदि शास्त्रीय शब्दों की व्याख्या महाकवि राजशेखर ने अपनी प्रसिद्ध काव्य काव्य-मीमांसा के द्वितीय अध्याय में की है। शास्त्रों का प्रणयन सूत्रों के रूप में होता है तथा सूत्रों का विवेचन वृत्तियों और इन तीनों का मिश्रण व्याख्यान-पद्धति में होता है। इसीप्रकार भाष्य, समीक्षा, टीका एवं पंजिका भी व्याख्या-पद्धति के अन्यरूप हैं। अर्थप्रदर्शन करने वाले माध्यम को कारिका तथा "उक्तानुक्तदुरुक्त" का विवेचन करने वाले माध्यम को वार्तिक कहते हैं।[1]

व्याख्या अथवा टीका के निम्नलिखित छः प्रकार गिनाये गये हैं :—

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना
आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं षड्विधं विदुः ॥

टीका पद्धति का मूल हमको वैदिक काल में ही प्राप्त होता है। वैदिक-साहित्य का अपार ज्ञानभण्डार जो हमें विरासत के रूप में उपलब्ध है वह

---

१. देखिये :—"सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः। सूत्रवृत्तिविवेचनं पद्धतिः। आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्। अन्तर्भाष्यं समीक्षा। अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा। यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका। विषमपदभञ्जिका पंजिका। अर्थप्रदर्शनकारिका कारिका। उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकमिति शास्त्रभेदाः॥"

किसी एक ऋषि, एक सम्प्रदाय, एक जाति या एक समय की देन नहीं है अपितु है अनेक ऋषियों, चारणों, भक्त से आचार्यों, कतिपय मनस्वियों और अनेक स्वा-ध्यायियों की। यह एक सामूहिक एवं सुदीर्घकाल में निर्मित विचारधारा है जो काल और व्यक्ति के अनुसार उत्कर्षापकर्ष को प्राप्त करती रही।

अनेक ऋषियों के हाथों एवं अनेक युगों से होकर आयी हुई वैदिक-ज्ञान की इस विरासत के सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्क के इस कथन को उद्धृत करना अनुचित न होगा कि ऐसे ऋषि हुए जिन्होंने तपस्या के द्वारा वेदरूपी धर्म का साक्षात्कार किया। पुनः उन्हीं ऋषियों ने अपने बाद के ऋषियों को जिन्हें उक्तधर्म का साक्षात्कार नहीं हुआ था अर्थात् जो वैदिक धर्म के साक्षात्कर्ता नहीं थे, वेदमन्त्रों का उपदेश किया।[1]

संस्कृत-वाङ्मय में व्याख्या-पद्धति का प्रारम्भिक रूप हमें ब्राह्मणग्रन्थों में ही मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद के मन्त्रों की व्याख्या दी गई है। इनका प्रधान विषय यज्ञों का प्रतिपादन एवं उनकी विधियों की व्याख्या करना है।[2] शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को प्रजापति और प्रजापतिको ब्रह्म कहा गया है "एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यो प्रजापतिः" ब्रह्म अर्थात् यज्ञविषय का प्रतिपादक ग्रन्थ होने के कारण इनको ब्राह्मण ग्रन्थ कहा गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों का वर्ण्यविषय :—

विषय की दृष्टि से हम ब्राह्मणग्रन्थों को (१) विधिभाग, (२) अर्थ-वादभाग (३) उपनिषद्भाग और (४) आख्यानभाग इन चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

---

१. "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्यो असाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः॥ निरुक्त १।६।४

२. शतपथब्राह्मण १।७, ४।२५

विधिभाग में वेदों में वर्णित कर्मकाण्ड की विस्तृत व्याख्या है। इसके साथ ही साथ वेदमन्त्रों की अर्थमीमांसा और वैदिक शब्दों की निष्पत्ति भी प्रथम भाग का विषय है। "दूसरे अर्थवाद" भाग में प्ररोचनात्मक विषय वर्णित हैं। अर्थवाद की आवश्यकता और उपयोग यज्ञविधियों को भली-भाँति देखाने में है। इसमें यज्ञ के विधानों का उल्लेख रहता है। जैसे-अमुक यज्ञ करने से अमुक फल की प्राप्ति होती है, अमुक यज्ञ करने के लिये अमुक विधियों की आवश्यकता है इत्यादि बातायें अर्थवादभाग में वर्णित हैं। मीमांसाकार महर्षि जैमिनि ने अर्थवाद के प्रधान तीन भेद किये हैं। (१) गुणवाद (२) अनुवाद (३) भूतार्थानुवाद। भूतार्थानुवाद को पुनः सात भागों में विभक्त किया गया है —

(१) स्तुत्यर्थवाद (२) फलार्थवाद (३) सिद्धार्थवाद (४) निन्दार्थवाद

(५) परकृति (६) पुराकल्प (७) मन्त्र

ब्राह्मण-ग्रन्थों के तीसरे उपनिषद् भाग में ब्रह्म-तत्त्व के विषय में विचार किया गया है। चौथे आख्यानभाग में प्राचीन ऋषिवंशों, आचार्यवंशों एवं राजवंशों की कथायें वर्णित हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू जाति के सामाजिक,धार्मिक और नैतिक जीवन के विकास की परम्परा का पता लगाने के लिए उनमें अनुसन्धानोपयोगी पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री बिखरी हुई है।

सम्प्रति उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों की संख्या १८ ही है और वे सभी ब्राह्मणग्रन्थ गद्य में ही लिखे गये हैं। प्रत्येक वेद के अपने अलग-अलग ब्राह्मण होते हैं।

यहाँ पर अधिक विस्तार में न जा करके केवल व्याख्या की विशेषताओं को ही देखना चाहिए।

ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा गद्यमयी है जैसा कि ऊपर ही लिख दिया गया है।

भाषा में प्रवाह दृष्टिगोचर नहीं होता है। एक ही क्रिया का बार-बार प्रयोग किया गया है। मानों ऐसा लगता है कि बक्ता को बढ़ाए बोलने के लिए बाध्य किया जा रहा है। ब्राह्मणग्रन्थ ही हमारे ऐसे प्राचीन ग्रन्थ हैं जिनकी

रचना सम्पूर्णतया प्राय: गद्य में ही निष्पन्न हुई है। इनकी भाषा अत्यन्त सरल तथा प्रभावोत्पादिका है। किन्तु उसमें परिमार्जन का सर्वथा अभाव दिखायी पड़ता है। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में गद्यभाषा का क्रमिक विकास दो रूपों में हुआ। एक ओर तो हमें कथा-कहानियों का गद्य मिलता है जो रमणीय, जटिल तथा कृत्रिमता से ओत-प्रोत है, दूसरी ओर पारिभाषिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों का प्रौढ़ चिन्तन प्रधान गद्य है जो तर्क बहुल तथा तथ्यमूलक है।"

ब्राह्मणग्रन्थों में पुराकथा से भी सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री मिलती है जिससे कि उनकी गरिमा और भी बढ़ जाती है। ह, ह, खलु, तु आदि शब्दों का प्रयोग गद्य में स्वाभाविकता की पुष्टि करता है। ह, वै, उ आदि अव्यय वाक्यालंकार के रूप में प्रयोग में लाये गये हैं। जिसके कारण वाक्यों की शोभा और भी बढ़ जाती है। ब्राह्मणग्रन्थों की सरल और सरलभाषा का लक्षण यही था कि उसमें भावों की व्यंजना बहुत ही विस्तृत एवं निश्चित ढंग से होती थी। अर्थ की सुस्पष्ट रूप से प्रतीति के लिये शब्दों का प्रयोग किया जाता था कि उससे अर्थ के सुस्पष्ट तथा विशद प्रतिपादन की चिन्ता का परिणाम यह फल होता था कि सम्पूर्ण वाक्यों की तथा कभी-कभी पूरे वाक्यसमुदायों की पुनरावृत्ति करनी पड़ती थी।

इस सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण का एक उदाहरण ही ब्राह्मण ग्रन्थों की टीका शैली के विषय में पर्याप्त प्रकाश डालने में समर्थ होगा :-

"तस्य ह दन्ता जज्ञिरे। तं होवाचाज्ञत वा अस्य दन्ता यजस्व मानेनेति। स होवाच यदा वै पशोर्दन्ता पुनर्जायन्ते ऽथ, समेध्यो भवति, दन्ता न्वस्य पुनर्जायन्ताम् अथ त्वा यजा इति। तथेति। तस्य ह दन्ताः पुनर्जज्ञिरे। तं होवाचाज्ञत वा अस्य पुनर्दन्ताः, यजस्व मानेनेति। स होवाच यदा वै क्षत्रियः सांनाहुको भवत्यथ, समेध्यो भवति संनाहं नु प्राप्नोत्वथ त्वा यजा इति तथेति।"

ब्राह्मणग्रन्थों के अतिरिक्त आरण्यक-ग्रन्थों तथा उपनिषद् ग्रन्थों पर हमें अनेक भाष्य, वृत्तियों एवं टीकाओं की जानकारी प्राप्त होती है। उपनिषदों पर शंकराचार्य के प्रामाणिक भाष्य हैं।

शंकर ने तैत्तिरीयोपनिषद् पर भाष्य लिखा और बाद में शांकर-

भाष्य पर भी अनेक टीकायें लिखी गईं।

टीका का विकास निरुक्त में देखा जा सकता है। निरुक्त निघण्टु की टीका है। शब्दज्ञान और शब्दव्युत्पत्ति व्याकरण के समान ही निरुक्त के भी विषय हैं। साथ ही कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति करना निरुक्त का विषय है। निरुक्त के निम्नलिखित विषय हैं जोकि निघण्टु से सर्वथा अलग हैं :-

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेनयोगः तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्॥"

अर्थात् वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश तथा धातु का उसके अर्थातिशय से योग, इन विषयों का प्रतिपादन निरुक्त में है। ये विषय निघण्टु के न होकर के निरुक्त जैसे व्याख्याग्रन्थ के ही हो सकते हैं। यास्क ने शब्दों को धातुज मान करके उनकी निरुक्ति की है। यह निरुक्त के प्रतिपाद्य विषय की असाधारणता है। निरुक्त यद्यपि वैदिकशब्दों का व्याख्याग्रन्थ है तथापि उसमें व्याकरण, भाषाविज्ञान साहित्य, कर्मकाण्ड तथा ऐतिहासिक विषयों की जानकारी के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

निरुक्तकाल में धीरे-धीरे टीका की आवश्यकता प्रतीत होने लगी होगी क्योंकि निघण्टु के शब्द लोगों को समझने में कुछ कठिन होने लगे होंगे। वस्तुतः निरुक्त को निघण्टु की टीका न कह करके व्याख्या या भाष्य कहना चाहिए।

निरुक्त में हम निघण्टु के सभी शब्दों पर व्याख्या नहीं पाते हैं। पर्यायवाचीवाले अध्याय में तो पूरे पर्याय के समूह जैसे (पृथ्वी के २१ नामों) में से केवल "गौ" शब्द की ही व्याख्या करके निरुक्तकार आगे बढ़ जाते हैं। इसमें हम निरुक्तकारों को एक स्वतन्त्ररूप से टीकाकार के रूप में देख सकते हैं। वे केवल प्रतिपद की व्याख्या ही नहीं करते बल्कि उसके पहले अपने शास्त्र में प्रवेश पाने वालों के लिए बहुत बड़ी भूमिका भी लिख देते हैं। उदाहरणार्थ निघण्टु के "गौ" शब्द की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में ही की है। इसमें

शब्दों के महत्त्व, पद के भेद, शब्दों का धातुज सिद्धान्त तथा निरुक्त की उपयो-
गिता, निर्वचन के नियम आदि अनेक विषयों पर विचार किया गया है ।

निरुक्त में टीका शैली देखने से ज्ञात होता है कि निघण्टु के किसी शब्द को यास्क तत्काल निरुक्त करते हैं । जैसे :- "नद्यः कस्मात् ? नदना: इमा भवन्ति: शब्दवत्य:" अर्थात् नदी शब्द किस धातु से बना और उसको नदी क्यों कहते हैं ? उत्तर है --नद् धातु से जिसका अर्थ है "शब्द करना" , से नदी शब्द बना है क्योंकि नदियाँ जोरों की आवाज करती हैं ।[1]

ऐसे स्थलों पर यास्क या तो ऐसे शब्दों का प्रयोग दिखाने के लिए सीधे किसी का उद्धरण देते या उसकी भूमिका बनाते हुए इतिहासादि का आश्रय लेते और इसके बाद ही ऋचा का उद्धरण देते ।

ऋचा का उद्धरण देने के बाद उसका अन्वय किये ही बिना एक-एक शब्द का पर्याय प्रतिपद सरल संस्कृत में देते हैं । बीच-बीच में शब्दों का निर्वचन करने के लिए कभी-कभी रुक भी जाते हैं । प्रतिपद व्याख्या करने में वे पादपूरणार्थक शब्दों (इ,उ,नु आदि) को छोड़ देते हैं । कभी-कभी संदेहास्पद या विवादास्पद स्थलों पर जैसे वेदमन्त्रों की सार्थकता, धातुजसिद्धान्त आदि विषयों पर एक बहुत बड़े शास्त्रार्थी की भाँति डट कर भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए तथा ठोस युक्तियों से उसका खण्डन करते हुए, अपने सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं । अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के बीच विभिन्नविचारों के परिपोषकों के मतों को भी उद्धृत करते हैं और तब यास्क को एक सच्चे वैज्ञानिक के रूप में पाते हैं ।

निरुक्त के पढ़ने पर विदित होता है कि यास्क शब्दों के निर्वचन में इतने तन्मय हो जाते हैं कि वे विषयवस्तु से दूर कुछ भटक जाते हैं । "गौ" शब्द का निर्वचन करते समय [illegible] का भी तरह से निर्वचन तथा पय और क्षीर जैसे शब्दों का निर्वचन करना निरुक्त की विषयान्तर है ।[2] यास्क के निरुक्त में छोटे-छोटे

---

१. निरुक्त २।५

२. देखिए निरुक्त २।२

शब्दों तथा समासयुक्त शब्दों का प्रयोग हुआ है, उदाहरणार्थ :—

" गौः इति पृथिव्याः नामधेयम् । यद् दूरंगता भवति । यच्च अस्यां भूतानि गच्छन्ति । गातेः वा । औकारो नामकरणः । अथापि पशुनाम इह भवति । एतस्मादेव । अथापि अस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवत् निगमाः भवन्ति । "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" इति पयसः । मत्सरः सोमः । मन्दतेः तृप्तिकर्मणः । मत्सरः इति लोभ नाम । अभिमत्तः एनेन धनं भवति । पयः पिबतेः वा प्यायतेः वा । क्षीरं क्षरतेः, घसेः वा ईरो नामकरणः । उशीरम् इति यथा ।।"[1]

व्याकरणशास्त्र में टीका, वृत्ति और भाष्य तथा व्याख्याओं का विकास इसी शैली को पर्याप्त रूप से मिलता है । व्याकरणशास्त्र सूत्रशैली में लिखित है । वैयाकरणों के सम्बन्ध में परम्परा से यह अनुश्रुति चली आ रही है कि आधी मात्रा भी कम कर देने से वह उतना ही हर्ष मनाता है जितना कि पुत्रोत्सव के उपलक्ष्य में " अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"

"महर्षि" पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्र का एक सर्वाधिक ख्यातनामा ग्रन्थ है । यह तो सर्वविदित है कि व्याकरण भाषा शास्त्र का विषय है । भाषायें नित्य ही परिष्कृत एवं विकसित होती गयीं । पाणिनि ने अपने समय तक के सारे भाषा विकास को अपनी पुस्तक में लिखा दिया था और उसके बाद के वैयाकरणों ने भी यद्यपि उसी विरासत को लेकर पाण्डित्य की श्रीवृद्धि की फिर भी पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा उनकी उत्तरवर्ती कृतियों में कुछ नवीनता के दर्शन अवश्य होते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा-विकास की सम्पूर्ण विधियों को आत्मसात् करने में महर्षि पाणिनि थोड़ी चूक किये होंगे और फलतः पाणिनि व्याकरण की इन कमियों को पूरा करने के लिए ही अष्टाध्यायी के वार्तिककारों, भाष्यकारों, वृत्तिकारों एवं टीकाकारों का जन्म हुआ ।

कालान्तर में पाणिनि व्याकरण के सूत्रों का अर्थ लगाना दुर्बोध प्रतीत होता रहा होगा और सूत्रों में कुछ कमी अवश्य प्रतीत होती रही होगी । कात्या-

---

1. देखिए, निरुक्त 2।2

यन ने पाणिनि व्याकरण के इस अभाव को पूरा करने के लिए ही इन सूत्रों पर वार्तिक लिखा । ये वार्तिक पाणिनि सूत्रों को समझने के लिए बहुत ही बोधगम्य साधन हैं । इन वार्तिकों की पाणिनिकृत सूत्रों में जितनी ही मौलिकता एवं मान्यता है । कात्यायन के अतिरिक्त भारद्वाजकृत वार्तिकों का पतंजलि ने अपने महाभाष्य में अनेक बार उल्लेख किया है । सुनाग, क्रोष्टा, वाडव, व्याघ्रभूति एवं वैयाघ्रपद्य वार्तिककारों का उल्लेख अनेक स्थलों से प्रमाणित होता है ।

वार्तिक के बाद भाष्य लिखने की आवश्यकता विद्वानों को हुई फलतः अनेक भाष्य लिखे गये ।

पतंजलिकृतमहाभाष्य में हमें भाष्य का आदर्श रूप देखने को मिलता है ।
महाभाष्य की भाषा अत्यन्त सरल एवं सुबोध है । संवादात्मक शैली में लिखा गया महाभाष्य सामान्यजन के हृदय में भी पढ़ने की रुचि उत्पन्न कर देता है । छोटे-छोटे महत्त्वपूर्ण लोकोक्तियाँ हैं जैसे :- (जैसे-- बातों की चबा-चट के लोभीने, मुण्डक = बालों में लपेट बन्धा, उष्णक और शीतक = तेज और मन्दगति से कार्य करने वाला) ।

महाभाष्य में अनेक रुचिकर कहावतों एवं सूक्तियों का भी वर्णन होता है जो कि चिरकाल के अनुभव एवं सूक्ष्मचिन्तन पर निर्भर हैं । व्याकरण जैसे रूक्ष एवं शुष्क विषय को भी महाभाष्यकार अपनी सरलभाषा एवं छोटे छोटे वाक्यों द्वारा संवादात्मक शैली में सरस तथा रुचिकर बना देते हैं । एक ही वाक्य को अनेकधा दुहराने की प्रवृत्ति भाष्यकार की है किन्तु उससे पाठक की रुचि एवं जिज्ञासा बढ़ती ही जाती है क्योंकि अपने प्रतिपाद्य विषय को समझाने के लिए व्याकरण से भिन्न सरस एवं सरल शब्दों का प्रयोग भाष्यकार करते रहते हैं ।

काशिका में व्याख्या का स्वरूप :-

अष्टाध्यायी की प्राप्तवृत्तियों में काशिका वृत्ति सबसे प्राचीन है । इसमें प्रत्येक सूत्र की अनुवृत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा शंका-समाधान का प्रति-

पालन भली-भाँति किया गया है । उदाहरण प्राचीन तथा क्रमागत रूप से ही समुपलब्ध हैं जिससे कि परम्परा की रक्षा भी की गई है । "काशिका वृत्ति" में कुछ स्थल भाष्य के विपरीत भी हैं । पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या प्राचीन वृत्तियों के आधार पर ही की गई है फलतः उनवृत्तियों के वृत्तिकार का भी ज्ञान हो जाता है ।

अष्टाध्यायीकार के सूत्रों की विशद व्याख्या इस ग्रन्थ में इस प्रकार से की गई है कि पाठक को बड़ी ही सरलता से अर्थबोध हो जाता है । काशिका की सभी विशेषतायें निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायेंगी :-

सूत्र :-"क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रतिकोपः ।। अ० १।२।३७

वृत्ति-अमर्षः क्रोधः अपकारो द्रोहः , अक्षमा ईर्ष्या, गुणेषु दोषाविष्करण-मसूया । क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं सम्प्रदानकारकं भवति । क्रोध प्रभवत्वात् कोप एव, द्रोहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते तस्मात् सामान्येन विशेष-णं यं प्रतिकोप इति । देवदत्ताय क्रुध्यति, देवदत्ताय द्रुह्यति, देवदत्तायेर्ष्यति, देवदत्ता-यासूयति । यं प्रति कोप इति किम् ? भार्यामीर्ष्यति, मैनामन्यो द्राक्षीदिति ।"

काशिका के साथ टीका स्वरूप शाङ्करभाष्य में देखा जा सकता है । इसमें भाषा अत्यन्त सरल तथा अर्थ अत्यन्त गंभीर है । इसमें प्रतिपद की व्याख्या की गई है । पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष दोनों का सम्मिश्रण देखने को मिलता है । पहले पूर्वपक्ष को उपस्थित कर उसका उत्तरपक्ष में समाधान किया गया है । भाष्य-कार अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए श्रुतियों एवं स्मृतियों का उद्धरण भी प्रस्तुत करते हैं ।[1] किसी भी पद्य व्याख्या करते समय वे कारक एवं समासादि का स्पष्ट रूप से संकेत करते जाते हैं । इसके अतिरिक्त पाणिनीय सूत्रों को उद्धृत करते जाते हैं ।[2]

---

१. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, अधि० १।१

२. प्रकरणे जिज्ञासा प्रकृतजिज्ञासा, प्रकरण इति, कर्मणि षष्ठी, न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च । (शांकरभाष्य)

दूसरे सिद्धान्तावलम्बियों के मतों को एके, अपरे, केचित् और अन्ये के द्वारा उद्धृत करते हैं। शाङ्करभाष्य का एक ही उदाहरण भाष्य या व्याख्या की पद्धति को स्पष्ट कर देगा।

"तत्र अथ शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्। मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति। पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्। सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्। नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः। न धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः। यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः, क्रमस्य विवक्षितत्वान्न तथैव क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वे अधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च।"

इसके अनन्तर दर्शनशास्त्र में वाचस्पति मिश्र की टीकाओं में टीका-शैली का सुन्दर रूप दर्शनीय है। इनकी टीका सांख्यदर्शन पर आदर्श टीका है। इस टीका के विषय में उनकी टीका शैली की विशेषता का उल्लेख करना आवश्यक है।

आचार्य वाचस्पति की टीका गम्भीर एवं पाण्डित्य पूर्ण है। अन्तिम कारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका को छः तन्त्रों के सारे विषयों का प्रतिपादक होने के कारण शास्त्र कहा है और किसी शास्त्र ग्रन्थ का जैसा गुरु-गम्भीर विवेचन होना चाहिए उनकी तत्त्वकौमुदी में वैसा ही शास्त्रीय विवेचन मिलता है। उनकी टीका शैली पाण्डित्यपूर्ण होने के कारण ही सामान्य पाठक के पहुँच के बाहर है। नैयायिक शैली में लिखी गई उनकी टीकाओं में तर्क एवं व्याप्तिज्ञान का ही प्राधान्य है।

सांख्यकारिका के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य पर लिखी हुई "भामती" टीका, न्याय के तात्पर्य का उद्घाटन करने वाली "न्यायवार्तिक तात्पर्य-

टीका एवं योगभाष्यपर लिखी गई तत्त्ववैशारदी टीकायें हैं जिनका अत्यधिक महत्त्व है।

आचार्य मिश्र की टीकाओं की विशेषता यह है कि इतने विविध शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी उन्होंने जिस समय जिस शास्त्र का व्याख्यान प्रारंभ किया है, उस समय उसी के रहस्यों के खोलने और गुत्थियों को सुलझाने की पूर्णनिष्ठा एवं तत्परता के साथ चेष्टा की है। इतरशास्त्रों की विरोधी एवं वैमत्य बातें उठाकर वे किसी शास्त्र विशेष में श्रद्धा रखने वाले पाठक की बुद्धि को भ्रम में नहीं डालते हैं। न्याय में सांख्य एवं सांख्य में वेदान्त के उच्चतर सिद्धान्तों को उठाकर प्रस्तुत शास्त्र के सिद्धान्तों की हीनता नहीं प्रकट करते। उदाहरणार्थ —सांख्य में सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करने वाली ईश्वर कृष्ण की नवम कारिका के व्याख्यान में जहाँ वेदान्त के मायावाद का प्रसंग आया है वहाँ पर अपनी सिद्धान्त का मोह छोड़कर 'प्रपंचप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वक्तुम्' ऐसा लिख कर उसका खण्डन किया है। ताकि सांख्य पढ़ने वालों की उसके सत्कार्यवाद अर्थात् प्रकृति का जगत् रूप कार्य सत् ही है असत् नहीं क्योंकि असत् की उत्पत्ति आकाश कुसुम एवं शशशृंग की भाँति असंभव है। इस सिद्धान्त में श्रद्धा हो सके। इसी प्रकार से सांख्य की १८ वीं कारिका में पुरुष का बहुत्व सिद्ध करने के लिए दिये गये तर्क सदोष प्रतीत होते हैं। यदि आचार्यमिश्र चाहते तो वे यहाँ पर पुरुष के बहुत्व की आलोचना कर सकते थे परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है बल्कि गम्भीरतापूर्वक उसका विवेचन किया है। वे तर्क सदोष इसलिये हैं कि जिस पुरुष की वास्तविक अनेकता सिद्ध करने के लिए तर्क दिये गये हैं वे तो परमार्थतः अजन्मा, उदासीन और अव्यवहार्य है और जो तर्क दिये गये हैं वे सामान्य एवं व्यावहारिक जीवन से हैं। वस्तुतः कभी भी जन्म और मरण न प्राप्त करने वाला पुरुष 'जन्म मरणकरणानां प्रतिनियमात्' (अर्थात् सभी पुरुष एक साथ जन्म एवं मरण न प्राप्त करने के कारण एक ही नहीं रहते, यदि एक ही होते तो एक साथ ही पैदा होते और मरते।) इत्यादि तर्कों के आधार पर अनेक कैसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए स्वतः प्रवृत्त होने वाली अचेतन प्रकृति के लिए ५७ वीं कारिका में दिया गया 'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य' इत्यादि दृष्टान्त

अर्थात् सा प्रतीत होता है। लेकिन आचार्य मिश्र ने यहाँ पर कुछ कारणों के स्थान पर ईश्वरवाद पर ही बड़ा मधुर व्यंग्य किया है।[1]

भामती टीका की शैली पर आचार्य मिश्र की व्याख्या की शैली और भी अच्छी तरह से समझ में आ जाती है। भाष्य के कथ्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सभी सम्भव पद्धतियों का आश्रय लिया है। भाष्यगत पारिभाषिक शब्दों को खोल करके उनका साम्प्रदायिक अर्थ समझाने की पद्धति उन्होंने अपनायी है, यथा — (१) स्मृतिरूपमिव स्मर्यतेति स्मृतिरूपः, स्पर्शन्निर्वृत्त-विषयत्वं वस्तुतिःस्वत्वम्।[2] (२) अतस्मिन् तदिति या भासोऽध्यासः। प्रत्यगा-त्मरूपाधिष्ठानत्वात्मतया समानो या एतावतामिथ्याज्ञानमित्युक्तं भवति।[3] (३) प्रत्यगात्मा आत्मानिर्वचनीयो देहेन्द्रियादिभ्य आत्मानं प्रतीपं निर्वचनीयं च इति जानातीति प्रत्यङ् स एव आत्मेति प्रत्यगात्मा।[4]

कहीं-कहीं पर एक कोशकार की भाँति शब्दों का संक्षिप्त एवं अभिप्रेत अर्थ रखते चले जाते हैं। जैसे — (१) परम - दुःखकारी परमार्थतः[5] (२) अन्य-धर्मत्व - ज्ञानधर्मत्व रजतस्य[6] (३) अन्यत्र-शुक्तौ[7] (४) विषयधर्माणां - देहेन्द्रिया-दिधर्माणां[8] (५) प्रतिपत्तिः - प्राप्तिः[9] (६) आत्मैकत्वम् - अखिलाखिलनिखिल-

---

१. सांख्यकारिका :—वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥

२. भाम०, पृ० १६

३. वही, पृष्ठ १८

४. वही, पृ० १८

५. वही, पृ० २६

६. वही, पृ० २६

७. वही, पृ० २६

८. भाम०, पृ० ३०

९. वही, पृ० १७५

प्रबंधत्वम्।[1] (७) भूतम्-सत्यम्[2] इत्यादि।

संस्कृत के विवेचनात्मक साहित्य की यह विशेषता है कि पहले पूर्व पक्ष के रूप में किसी विरोधी मत को प्रस्तुत किया जाता है तदनन्तर उसका खण्डन करके उत्तरपक्ष के रूप में अपने मत की प्रतिष्ठा की जाती है।[3] वाचस्पति मिश्र ने भी इस परम्परा का अक्षरशः पालन किया है। किन्तु उनकी विशेषता इस विषय में यह है कि वे पूर्वपक्ष को पूर्ण प्रमाण और तर्कों के साथ प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि भामती में बौद्धमत विवेचन एवं जैनमत विवेचन के अवसर पर उन्होंने किया है।

वाचस्पति मिश्र ने अपने कथनों की पुष्टि के लिए अपने समय में प्रचलित लोकोक्तियों व मुहावरों का अवलम्बन किया है जिससे उनकी भाष्य व्याख्या शैली अधिक सुरस, सुबोध, स्पष्ट एवं प्रभावशाली बन पड़ी है। यथा —(१) काल्पनिक सृष्टि का सहायक भी मायामय है, इसकी पुष्टि करते हुए लिखते हैं — 'सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता'[6] (२) प्रभाकरमीमांसक आत्मा और अर्थ दोनों को जड़ मानते हैं तथा उन दोनों का भान अर्थप्रकाश के द्वारा मानते हैं। वा। इसका खण्डन लोकप्रचलित आभाणक के द्वारा करते हैं (अर्थप्रकाशः) अन्धस्येव

---

१. भाम०, पृ० ६१

२. वही, पृ० ७३

३. पूर्वपक्ष के प्रस्तुतीकरण एवं तदनन्तर उसके निरस्तीकरण की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं — "ननु..... स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं, किं परपक्षनिराकरणेन परविद्वेषकरेण ? बाढमेवम्, तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत् । केषांचिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा । तथा युक्तिगाढत्व संभवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु, इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते ।

—शां०भा०, पृ० ४८७-८८, ब्र०सू० २।२।१

४. भामती, पृ० ४२३-४५८

५. वही, पृ० ४५६-४६५

६. वही, ४८४ ७. वही, पृष्ठ ३५

विषयालंबनानामपि जहातीति अस्मिन्निर्दे प्रकाशनादिदोषादि, इति प्राप्तमान्ध्य-शैवस्य अतः । यथा आभाणकः अन्धस्यैवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे ।

(३) वे सांख्यमत में मोक्ष की असंभावना का प्रतिपादन भी मुहावरे के माध्यम से ही करते हैं —'अविद्यमानकूला तरंगिणी न कदाचित् प्रसज्येत्' ।[1] (४) ईश्वर यदि करुणापराधीन और वीतराग है तो प्राणियों को निकृष्ट कर्म में प्रवृत्त नहीं करेगा, उससे दुःख उत्पन्न ही नहीं होगा और ईश्वराधीन प्राणी अपनी इच्छा से निकृष्ट कर्म नहीं कर सकते । यदि प्राणी निकृष्ट कर्म कर भी लें तो वह कर्म ईश्वराधिष्ठित होने से फल प्रदान करने में असमर्थ होगा । इसलिए स्वतन्त्र ईश्वर को भी कर्मों में कारण मानना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष अवश्यम्भावी है । इस भाव को लौकिक मुहावरे द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

"तथा चायमपरो गण्डस्योपरि स्फोट इतरेतराश्रयत्वम्:
प्रसज्येत कर्मणेश्वरः प्रवर्तनीय ईश्वरेण च कर्मेति ।[2]

(५) पीछे से दुःख की आशंका से सुख को नहीं छोड़ा जाता, इस भाव को लौकिक उदाहरणों से स्पष्ट करते हुए लिखते हैं —"यथा मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्या-नुपादत्ते, स यावदादेयं तावदादाय विनिवर्तते । यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यान्याहरति, स यावदादेयं तावदुपादाय निवर्तते, तस्माद् दुःखभयान्नानु-कूलवेदनीयमैहिकं वामुष्मिकं वा सुखं परित्यक्तुमुचितम् । न हि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते, भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते ।[3]

भाष्य की व्याख्या करते समय वाचस्पति मिश्र का मुख्य प्रयास केवल शब्दार्थ तक सीमित न रहकर भाष्य के अर्थ को स्पष्ट करने का अधिक रहा है ।[4]

---

१. भामती, पृ० ५०२

२. वही, पृ० ५८४

३. वही, पृ० ७४

४. देखिये वही, पृ० १२-१४, ५४-६२, ६४-६८, २०५-२०६ आदि

आचार्य वाचस्पति मिश्र की शैली की दूसरी बड़ी विशेषता यह है जब वे अनुभव करते हैं कि भाष्य का सीधा अनुगमन करने से भाष्यकार का मन्तव्य स्पष्ट नहीं हो पा रहा है अथवा भाष्यकार से अधिक जो स्पष्टता प्रदान करने के लिए अपनी ओर से कुछ कहना अथवा उसे प्रकारान्तर से प्रस्तुत करना आवश्यक है वहाँ वे अयमभिसन्धि,[1] एतदुक्तं भवति,[2] इदमत्राकूतम्,[3] अयमभिप्रायः,[4] अयमत्राकूतम्।[5] इत्यादि: वाक्यों के माध्यम से आवश्यक सामग्री प्रस्तुत कर देते हैं। प्रायः इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत वाचस्पति मिश्र की अपनी दार्शनिक मान्यतायें प्रस्फुटित हुई हैं।

जैन साहित्य में व्याख्या, टीका एवं भाष्य :-

पालि त्रिपिटक पर बुद्धघोष की अट्ठकथाओं की भाँति आगम-साहित्य पर भी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका, विवरण, विवृत्ति, वृत्ति, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णि-विवेचन, व्याख्या, छाया, अक्षरार्थ, पंजिका, टब्बा, भाषा-टीका, तथा वचनिका आदि विपुल व्याख्यानात्मक साहित्य का भण्डार संचित है।

प्राकृत-साहित्य के इतिहास की अध्ययन की दृष्टि से इस व्याख्या-त्मक साहित्य में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी तथा कुछ टीकाओं का प्राकृत-बद्ध होने के कारण से सर्वथा अपरिहार्य है।

आगम साहित्य में टीका के स्वरूप को देखा यहाँ पर प्रसंगानुकूल ही होगा। अतः इस टीका साहित्य में टीका के स्वरूप पर विचार करना चाहिए। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णियों की भाँति आगमों के ऊपर विस्तृत टीकायें भी लिखी गई हैं। ये टीकायें आगम-सिद्धान्त को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। ये टीकायें संस्कृत में हैं। यद्यपि इन टीकाओं का कथासम्बन्धी कुछ अंश प्राकृत में

---

1. भामती, पृ०२,७४,१०५,१०६,१२६,३२२,३४५,३६८,४३२,५३५,८८०,६३२ इत्यादि
2. भामती, पृ० ८,२७,४०,७१,६०,६५,१०७,१२६,१२८,१३४,१३८,१६६,१५५ ,,
3. भामती०, पृ० ८,५४ इत्यादि
4. भाम०, पृ० १४६
5. भामती, पृ० २७

भी उद्धृत किया गया है।

टीकाकारों में याकिनीसूनु हरिभद्रसूरि (७०५-७७५ ई० सन्) ने दश-वैकालिक नन्दी और अनुयोग द्वार पर टीकायें लिखीं। प्रज्ञापना पर भी हरिभद्र ने टीका लिखी है। हरिभद्र सूरि के लगभग १०० वर्ष पश्चात् शीलांकसूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर संस्कृत टीकायें लिखीं। हरिभद्रसूरि की भांति टीकाओं में प्राकृत कथाओं को सुरक्षित रखने वाले आचार्यों में वादिवेताल शान्ति सूरि, नेमिचन्द्रसूरि हैं। ये नेमिचन्द्र ई० सन् की ११ वीं शताब्दी में हुए थे। शान्तिसूरि की टीका का नाम भी पाइअ (प्राकृत) टीका है। शान्तिसूरि ने प्राकृत की कथायें उद्धृत करते हुए अनेक स्थलों पर वृद्ध सम्प्रदाय, वृद्ध, वृद्धवाद, अथवा अन्ने भणन्ति लिखा गया है। जिससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल से इन कथाओं की परम्परा चली आ रही है।

पाली साहित्य में टीकाओं का स्वरूप एवं विकास —

संस्कृत-साहित्य में जिस प्रकार टीका और भाष्य, ये दो साधन मूल-पाठ के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं उसी प्रकार पाली साहित्य में मूल पाठ की व्याख्या के लिए वैय्याकरण और अट्ठकथायें प्रस्तुत की जाती हैं। पाली साहित्य में वैय्याकरण के द्वारा मूल-पाठ के शब्दों और वाक्यांशों के पर्यायवाची देकर कुछ अर्थों, अलंकारों, व्याकरण तथा इतिहास सम्बन्धी निर्देशों का स्पष्टीकरण व्याख्या में होता है। पाली साहित्य की टीकाओं और भाष्यों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देने की भी विशेषता है जो कि संस्कृत भाष्य-साहित्य के भाष्यों में नहीं प्राप्त होती।[1]

नेत्तिपकरण तथा पेटकोपदेस के रचयिता पेटकोपदेस के अनुसार अट्ठकथाओं का उद्देश्य मूलपाठ की व्याख्यात्मक प्रणाली के द्वारा शब्दों के अर्थ को निश्चित करना है (सुत्तस्स अत्थं परियेसितब्बम्।) अर्थ निश्चय करने में भाषा

---

1. डा० भरत सिंह उपाध्याय का — पाली साहित्य का इतिहास।

और सिद्धान्त दोनों ही ध्यान में रखा पड़ता है। शब्द भाषा की ओर से कठिन स्थलों का सम्बन्ध मूलपाठ के वाक्यों और शब्दों की व्याकरणानुसार की गई व्याख्या से है। सिद्धान्त की ओर से उसका सम्बन्ध प्रतिपाद्य वस्तु के प्रारम्भिक अनुसंधान, पूर्ण अनुसन्धान, परीक्षा, आलोचनात्मक परीक्षा, सिद्धान्तों का परस्पर मिलान, प्रमाणीकरण विशेषण एवं स्पष्टीकरण से है (विषयों पदच्छेदौ, पौर्वापर्य, उपसंहारणा, तुलना, संगतता, समालोचना, विवरण, विशाखा, उपसंहरणम्) ।[1]

संस्कृत काव्य-साहित्य में टीकाओं का विकास :-

टीका साहित्य का विकास हमें लौकिक संस्कृत में प्रचुर मात्रा में देखने को मिलता है। टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में कठिन शब्दों की व्याख्या करके व्याकरण सम्बन्धी सभी नियमों का अनेक उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट उल्लेख किया है। संस्कृत के टीकाकारों ने प्रायः कवि के मन्तव्य को ध्यान में रखकर ही अपनी व्याख्या एवं टीकाशैली का चयन किया है क्योंकि अनियमित एवं अमनोवैज्ञानिक पद्धति के अभाव में अच्छी से अच्छी तथा पूर्ण सामग्री भी निरुपयोगी बन कर रह जाती है और कई बार तो अनेक भयंकर भ्रान्तियों को भी जन्म दे डालती है जैसा कि दैनिक व्यवहार में भी देखने को मिलता है। संस्कृत काव्य के मल्लिनाथ जैसे भारती-साहित्य-विशारद इस सम्बन्ध में अधिक यत्नशील रहे हैं। टीकाओं की शैली एवं पढ़ने से यह प्रतीत होता है सभी टीकाकारों ने चाहे वे आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक पर टीका करने वाले अभिनवगुप्त हों अथवा वक्रोक्तिकार हों या मल्लिनाथ एवं वल्लभदेवादि हों, सभी ने अपनी व्याख्या-पद्धति को अधिक प्रभावशालिनी एवं रुचिकर बनाने के लिये ही अभिधा से आगे बढ़कर लक्षणा व व्यंजना का भी सहारा लिया, इसी कथन पद्धति को लाटी, गौड़ी, पांचाली, वैदर्भी आदि रीतियों में विभक्त किया। छंद और अलंकार भी इस कथन पद्धति को सजाने और संवारने के लिये अपनाये गये।

---

१. टीकाकरण, पृष्ठ ५५-५६

उच्यते — इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सः अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते । तथाहि कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयः अर्थव्यक्त्यादिप्रौढ्याद्युपमादयस्तद्भावतदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते[1]।"

जैसा कि हम जानते हैं कि प्रत्येक भाषा में कुछ लोकोक्तियाँ व मुहावरे प्रचलित होते हैं। सामान्यवाक्य की अपेक्षा इनमें कुछ विशेषतायें होती हैं। यथा —(१) इनमें शब्द सीमित किन्तु अर्थ अपेक्षाकृत विस्तृत होता है। (२) लोक में इनका अर्थ स्पष्ट एवं प्रसिद्ध होता है और (३) किसी कथन की पुष्टि के लिए इन्हें प्रमाण के समान प्रस्तुत किया जाता है। इसलिए एक कुशल व्याख्याकार एवं टीकाकार आवश्यकतानुसार लोकोक्तियाँ व मुहावरों का प्रयोग करके अपने मत यह सिद्धान्त को परिपुष्ट करता है।

संस्कृत काव्यों की टीकाओं का अवलोकन करने पर हम लोकोक्तियाँ एवं प्राचीन कथाओं का प्रयोग देख सकते हैं। मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में अपने कथनों की पुष्टि के लिये लोकोक्तियाँ एवं प्राचीन कथाओं का प्रायशः प्रयोग किया है। यथा (१) विनाशकाल में मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है इसकी पुष्टि करते हुए लिखते हैं[2] "विनिर्मितः केन न दृष्टपूर्वो हेम्नः कुरंगो न च श्रुत वार्ता। तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाशकाले विपरीत बुद्धिः"

(२) धर्म और अर्थ और काम का समान रूप से सेवन करना चाहिए क्योंकि सभी का अपना-अपना महत्त्व होता है। दुर्योधन का त्रिवर्ग परस्पर बाधित नहीं होता है क्योंकि वह उनका समान रूप से सेवन करता था[2]। "धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यो ह्येकसक्तः जनो जघन्यः"

अधिक विस्तार के भय से इसको यहाँ पर छोड़कर अगले अध्याय में सविस्तार वर्णित किया जायेगा।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की है। ध्वन्यालोक में कारिका और उनकारिकाओं पर वृत्ति भी एक प्रकार

---

१. किरा०, १८।१९

२. किरा० १।११

है टीका या व्याख्या की रूपान्तर है, स्वयं आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है। कारिका की व्याख्या में ध्वनिकार प्रतिपद का अर्थ करते हैं। भाषा बहुत ही सरल है। ध्वनिविरोधी आचार्यों के सिद्धान्त को पहले पूर्वपक्ष के रूप में रखते जाते हैं और फिर उनका खण्डन करके स्वमत की स्थापना बड़े ही सुन्दर ढंग से करते हैं। किसी भी सिद्धान्त को समझाने के लिए उदाहरण भी देते हैं। ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका की वृत्ति में अभाववादियों के सिद्धान्तों की स्थापना और प्रथम उल्लास की १३ वीं कारिका में उन मतों का खण्डन किया गया है तथा उसके बाद ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। ध्वनिकार की व्याख्या शैली शास्त्रीय होने के कारण सहृदय ग्राह्य है। ध्वनिकार की व्याख्या शैली का उदाहरण इस प्रकार है –

" बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्तात् म्नातः प्रकटितः तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्य भावमन्ये जगदुः। तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति। तत्र केचिद् आचक्षीरन् – शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवो नु - प्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्ते पि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो पि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता: अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः को यं ध्वनिर्नामेति। अन्ये ब्रूयुः – नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः, सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति। न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितो पि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।"[1]

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्॥ ध्वन्यालोक १।१

आचार्य आनन्दवर्धन अपने सिद्धान्त की स्थापना विरोधी आचार्यों के सिद्धान्तों के खण्डन के द्वारा ही करते हैं। अपने प्रतिपाद्यविषय के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत करने के बाद अन्त में उसका सारांश भी देते हैं जैसे ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत की १३ वीं कारिका की वृत्ति में अभाववादियों के सिद्धान्त को विस्तारपूर्ण ढंग से अनेक युक्तियों के द्वारा निरस्त करते हैं और अन्त में अपने सिद्धान्त का सार देते हैं - यथा —

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्येन प्रतीयते ॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रतिस्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ॥[1]

ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्तपादाचार्य की "लोचन" टीका प्रामाणिक है। साहित्यशास्त्र पर लिखी गई इस टीका में दार्शनिक स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। प्रारम्भ में मांगलिक श्लोक के द्वारा निर्विघ्न ग्रन्थ के समाप्ति की कामना की गई है।[2] व्याख्या एवं टीका का आदर्शनमूना नाट्यशास्त्र की व्याख्या "अभिनवभारती" एवं ध्वनिशास्त्र की व्याख्या लोचन में देखा जा सकता है। लोचन एवं अभिनव भारती जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही अधिक क्लिष्ट भी है। लोचन व्याख्या के द्वारा इस बात का प्रयत्न किया गया है कि ध्वनिकार का आशय पूर्णतः प्रकट हो जावे और पाठकों को इसमें मौलिकरचना की तरह ही आनन्द प्राप्त हो।

लोचन की व्याख्या शैली में हम दार्शनिक शैली देखते हैं यथा —

" तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ - लौकिकः काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति । लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते । स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते सोऽपि द्विविधः —यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थे ऽलङ्कारभावमुपमादिरूपतामन्वभूत् इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्रगुणीभावात् । स पूर्वं प्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन । तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते । मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम् । यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्द-

---

१. ध्वन्यालोक १३ वीं कारिका पर वृत्ति ।

वाच्यो न लौकिक व्यवहारपतितः किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानु-
भावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादि वासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापार-
रसनीय रूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव
मुख्यतयात्मेति ।"[1]

लोचनकार प्रतिपद की व्याख्या भी करते हैं । उदाहरणार्थ :-
कारिका और वृत्ति दोनों में लावण्य और सहृदय शब्द आये हैं ।[2] इनकी व्याख्या
इस प्रकार की गई है :- "लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयव व्यति-
रिक्तं धर्मान्तरमेव । न चावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लाव-
ण्यम्, पृथङ्निर्वर्ण्यमानकाणत्वादिदोष शून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलं-
कृतायामपि लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेय-
मिति सहृदयानां व्यवहारात् ।"

इसीप्रकार सहृदय का अर्थ काव्यानुशीलन के अभ्यास से जिनके विशद
हुए मनोमुकुर में वर्णनीय से तन्मय होने की योग्यता होती है वे अपने हृदय से
संवाद (वर्णनीय वस्तु से एकीकरण) को प्राप्त होने वाले सहृदय होते हैं ।

अन्य टीकाकारों की भाँति लोचनकार भी अपने मत को सोदाहरण
प्रस्तुत करते हैं । यथा -सहृदय शब्द की परिभाषा करने के बाद उसे उदाहरण
द्वारा सम्पुष्ट करते हैं -

"योऽर्थः हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥"

आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त की टीका शैली के देखने के बाद वक्रोक्तिकार एवं
मम्मटाचार्य की व्याख्याशैली का विस्तार से विवेचन न करके केवल मल्लिनाथ की

---

१. ध्वन्यालोक १।४ कारिका और वृत्ति की लोचन व्याख्या ।
२. लोचन " येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन-
योग्यता ते स्वहृदय संवादभाजः सहृदयाः ।"

टीका शैली से तुलना करना ही अभीष्ट है ।

आचार्य मम्मट एवं आचार्य कुन्तकाचार्य ने प्राय: अनेक प्रसंगों में कालिदास, भारवि एवं माघ के श्लोकों को उद्धृत कर अपने मत की पुष्टि की है । जैसा कि पहले ही लिखा गया है कि मल्लिनाथ ने उपर्युक्त सभी काव्यों पर टीका की है । यहाँ पर कुछ श्लोकों की तुलनात्मक व्याख्या के द्वारा मल्लिनाथ एवं उनके पूर्ववर्ती कुन्तक, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तपादाचार्यों की व्याख्या शैली की विशेषता सहज ही ज्ञात हो जायेगी ।

मेघदूत के ३६ वें श्लोक[1] को आचार्य कुन्तक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित में अर्थ की परिभाषा के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है ।

मल्लिनाथ ने शब्द के अर्थ को तो स्पष्ट किया है लेकिन शब्द की सार्थकता को उतना स्पष्ट नहीं किया है जितना कि आचार्य कुन्तक ने । हाँ, मल्लिनाथ की टीका शैली की अपनी विशेषता है जिसमें कि रस, अलंकार, छन्द, व्याकरण एवं कोशों का उद्धरण दिया गया है । काव्यशास्त्र की व्याख्या शैली भाष्य के समान है । उसमें अन्वय पूर्वक व्याख्या नहीं की जाती है । वक्रोक्ति-कार ने अर्थ की विशेषता बतलाते हुए 'भर्तुर्मित्रं मां विद्धि' 'प्रियं' 'तत्सन्देशात्' 'हृदयनिहितात्' 'अभ्यागताम्' 'वृन्दानि' 'मन्द्रस्निग्धै:' 'अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि' आदि पदों की सार्थकता को अच्छी तरह से स्पष्ट किया है यथा --

अविधवे का अर्थ यक्षपत्नी को आश्वासन देने से है । अर्थात् अविधवे शब्द से सूचित होता है कि तुम्हारा पति जीवित है । अत: यह 'अविधवे' सम्बोधन शब्द यक्ष पत्नी के लिये यह संकेत करता है कि वह आश्वस्त रहे ।

---

१. भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामाम्बुवाहम् ।
तत्सन्देशाद्धृदयनिहितादागतम् त्वत्समीपम् ।।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानाम्
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ।। उ०मे०श्लोकसंख्या ३६

"मुझे अपने पति का मित्र समझो" यह वाक्य मेघ की उपादेयता एवं विश्वसनीयता की पुष्टि करता है और यह मित्र भी सामान्य नहीं अपितु प्रिय मित्र है। इससे द्वारा विश्रम्भ कथा की पात्रता को भी सूचित करता है। इस प्रकार श्लोक के प्रथम चरण में वियोगिनी यक्ष-पत्नी को आश्वासन देकर अपनी बात समझाने के (सुनने के लिए) लिए उन्मुख करके, "उसके सन्देश से तुम्हारे पास आया हूं" से प्रकृत को प्रस्तुत करता है, "हृदयनिहितात्" से संदेश का मौलिक होना घोतित होता है। यक्ष-पत्नी के मन में आशंका हो सकती है कि इस प्रकार के सन्देश को ले जाने वाला अन्य व्यक्ति नहीं था क्या? इस आशंका का निवारण "अम्बुवाहम्" पद से होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि मेरे समान उस कार्य को अन्य कोई सुन्दर ढंग से नहीं कर सकता है क्योंकि वहन करना ही मेरा कार्य है। जब मैं जल लेता हूं तो सन्देश भी पहुंचा सकता हूं। इसके अतिरिक्त "अम्बुवाहम्" पद से मेघ अपना नाम भी सूचित करता है। "जो प्रवासियों के समूहों को "स्वरयति" घर जाने के लिए शीघ्रता करा देता है तथा जो विश्राम करते हुए प्रवासियों को जल्दी करने में असमर्थ होने पर भी (थकावट के कारण) (अपनी आवाज सुना कर शीघ्र ही भागने के लिए तैयार करा देता है।) "वृन्दानि" से तात्पर्य एक व्यक्ति का नहीं अपितु अनेक को शीघ्रता करने में प्रवृत्त करना है। "पथि" शब्द से यह सूचित होता है कि "मेघ को यह कार्य करने में किसी स्थान विशेष की आवश्यकता नहीं पड़ती है वह स्वेच्छा से यह कार्य कर सकता है।"[1]

प्रतिशब्द के औचित्य को बतलाने के बाद आचार्य कुन्तक श्लोक का अभिप्राय बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रदर्शित करते हैं यथा -"तुम दोनों के समान भाग्य-वश विरह-दुःख भोगने वाले और परस्पर अनुरक्त चित्त सभी प्रेमीजनों के समागम-सुख के सम्पादन रूप प्रिय कार्य का मैंने संकल्प व्रत लिया है। यहाँ कवि ने जो मेघरूप पदार्थ का स्वभावाभिव्यक्ति किया है। वस्तुतः काव्य के निर्माणतत्त्व में यही जीवन है और यही (यह अर्थ) स्वर्ग की वस्तुओं के लिए अत्यन्त आनन्ददायक है।[2]

---

१. वक्रोक्तिजीवित की कारिका १।९ की वृत्ति

२. वही १।९ की वृत्ति

इसी प्रकार आचार्य कुन्तक ने कुमारसंभव के ७।१३ श्लोक को "पदार्थवक्रता" के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। यहाँ पर उस प्रकार की स्वाभाविक सुकुमारता से मनोहर शोभा का अतिशय रूप में प्रतिपादन करना कवि को अभीष्ट है। वक्रोक्ति जीवितकार इस श्लोक को पदार्थवक्रता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए बहुत ही अच्छे ढंग से स्पष्ट करते हैं। मल्लिनाथ तो केवल अर्थ की दृष्टि से ही इस श्लोक की टीका करते हैं। इनकी और इनके पूर्ववर्ती आचार्यों की टीकाओं की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि मल्लिनाथ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों एवं टीका पद्धति का अनुकरण नहीं किया है। उनका तो टीका शैली का मार्ग अपना मौलिक था। यही कारण है कि आचार्य मम्मट आनन्दवर्धनाचार्य, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों के ग्रन्थों का परिशीलन करते हुए भी सर्वत्र उनके मतों को ~~परिशीलन करते हुए भी सर्वत्र उनके मतों को~~ वे सदैव उद्धृत नहीं करते हैं और न तो व्याख्याशैली को ही अपनाते हैं।

मल्लिनाथ ने आचार्य मम्मट एवं आनन्दवर्धन को ध्वनि के प्रसंग में प्रमाणरूप में उद्धृत किया है लेकिन वे अपना स्वतंत्र विचार भी रखते हैं। कुमारसंभव ६।८४ श्लोक[1] को आचार्य आनन्द वर्धन ने अर्थशक्त्युद्भव के उदाहरण के रूप में रखा है क्योंकि लीला-कमलदल का गिनना अपने स्वरूप को गौण बनाकर बिना ही शब्द व्यापार के व्यभिचारी भावात्मक दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है। वे इसे असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण नहीं मानते क्योंकि जहाँ पर विभावानुभाव और संचारी भावों की प्रतीति साक्षात् शब्द के द्वारा होती है, वहाँ पर ही असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है। इस बात को आनन्दवर्धनाचार्य उदाहरण द्वारा सिद्ध करते हैं—यथा, कुमारसंभव में वसन्त वर्णन के प्रसंग में, वसन्त पुष्पाभरणों को धारण किये हुए देवी पार्वती के आगमन इत्यादि का कामदेव के शरसन्धानपर्यन्त वर्णन तथा परिवृत्तधैर्यवाले भगवान शिव की चेष्टा का वर्णन साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित किया गया है।[2] यहाँ

---

१. एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

(~~कृपया अगले पृष्ठ पर देखें~~)

पर तो सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारियों के द्वारा रस की प्रतीति होती है।

मल्लिनाथ ने इस श्लोक 'एवंवादिनि देवर्षौ' की व्याख्या करते समय यहाँ 'अवहित्था' नामक संचारी भाव एवं उसकी शास्त्रीय परिभाषा बतलायी है। पार्वती ने लज्जावश कमल के पत्र की गिनने के बहाने अपने हर्ष को छिपा लिया। (लज्जावशात् कमलदलगणनाव्याजेन हर्षं जुगोपेत्यर्थः : अनेनावहित्थाख्यः संचारीभाव। तदुक्तम् 'अवहित्था तु लज्जादेर्हर्षाद्याकारगोपनम्'

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास, सप्तम और नवम तथा दशम उल्लास में किरातार्जुनीयम्, कुमारसम्भवम्, रघुवंशम् एवं शिशुपालवधम् आदि महाकाव्यों एवं काव्यों से उदाहरण दिये हैं।

यह पहले ही ऊपर लिख दिया गया है कि मल्लिनाथ मम्मट के अनुयायी थे किन्तु टीका करते समय अपनी मौलिकता एवं विवेक बुद्धि को कभी नहीं छोड़ते। मम्मट ने निम्नलिखित श्लोक के 'जन्तु' पद में 'अवाचक' दोष दिखलाया है —

'अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः॥ १।३३

इस श्लोक में प्रयुक्त जो 'जन्तु' पद है उसमें दान न देने वाले व्यक्ति का अर्थ भले ही विवक्षित हो (क्योंकि विहन्तुरापदाम्' के अर्थ का व्यतिरेक ही यहाँ अभिप्रेत हो सकता है) किन्तु इसके द्वारा दान न देने वाले व्यक्ति का अर्थ

~~पिछले पृष्ठ का शेष~~ —

२. देखिये कुमारसंभव — (१) निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभिरदृश्यत स्थावरराजकन्या।

(२) प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम्॥

कु० ३।६६

(३) हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥

कु० ३।६७

ने यहाँ पर काव्यलिंग एवं परिकरालंकार की संसृष्टि मानी है।[1]

शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग के १४ वें श्लोक में रैवतक पर्वत का वर्णन किया गया है यहाँ पर उषा की लाली की चारों ओर फैली कान्ति से पहले ही स्वतः हरितवर्ण (हरे रंग की भी) सूर्य की किरणें रक्तवर्ण की बना दी जाया करती हैं और बाद में मेघ शरीर की भाँति नीलवर्ण के मरकत मणियों की फैलती आभा से पुनः अपने पहले के हरे रंग को पा लिया करती हैं।[2]

यहाँ पर सूर्य की किरणों की अपेक्षा उषा की लाली की उत्कृष्टगुणता और उषा की लाली की अपेक्षा मरकतमणियों की प्रकृष्टगुणशालिता विवक्षित है। अतः तद्गुणालंकार यहाँ पर है। मल्लिनाथ ने भी यहाँ पर तद्गुणालंकार माना है किन्तु उन्होंने इसका लक्षण अन्यत्र से उद्धृत किया है।[3]

उपरिलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत वाङ्मय में टीका पद्धति अति प्राचीन है।

---

१. "कनकतौक्षतादि पदार्थानां प्राणदानकर्तृत्वं प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वाभिधानात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। तथा साभिप्रायविशेषणत्वात् परिकरालंकारः इत्यनयोस्तिलतण्डुलवद् विभक्ततया स्फुरणात्संसृष्टिः।

२. विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः।

३. "अत्र विभिन्नवर्णा इत्येकस्तद्गुणः। रथ्यानां स्वगुणत्यागेन सजातीययोः गरुडाग्रजगुणग्रहणात्पुनस्तत्त्यागेन मरकतगुणग्रहणाद् परस्परमुपजीवीति सजातीययोः संकरः।"

चतुर्थ अध्याय

मल्लिनाथ की टीका शैली एवं अन्य टीकाकारों से उसका वैशिष्ट्य—

समस्त संस्कृत-वाङ्मय में टीकाओं का विशेष महत्त्व है। टीका या व्याख्या के द्वारा ही गूढ़ अर्थों को समझने में सहायता मिलती है। संस्कृत की टीकाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि टीकाकार अथवा भाष्यकार शब्दों और पदों की व्याख्या मूलपाठ के आधार पर ही करते हैं लेकिन किसी शब्द को स्पष्ट करने के लिए वे अपना भी मत देते हैं। मल्लिनाथ टीका-साहित्य के धुरन्धर विद्वान् थे। इनकी प्रतिभा से संस्कृत-टीका-साहित्य को एक नवीन दिशा प्राप्त हुई है जिसका अनुसरण परवर्ती टीकाकारों ने किया है। उनके टीका प्रणयन का सिद्धान्त था :—

"इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते ।"

इस सिद्धान्त का पर्यालोचन करने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने अपनी सभी टीकाओं में अपनी टीका-सम्बन्धित इस प्रतिज्ञात प्रणाली का पूर्ण निर्वाह किया है। संस्कृत-साहित्य में टीका का स्वरूप भाष्यों में भी देखने को मिलता है। महाभाष्य व्याकरण के क्षेत्र में आदर्श टीका का उदाहरण है। इसी प्रकार वेद में सायणाचार्य के भाष्यग्रन्थों को हम वैदिक-साहित्य का उदाहरण मान सकते हैं।

टीकाकार वास्तव में वही आदर्श होता है जो क्लिष्ट और अस्पष्ट शब्दों की व्याख्या करता है। पातञ्जल-दर्शन पर भोजवृत्ति की भूमिका में टीकाकारों के विषय में लिखा गया है कि :—

"दुर्बोधं यदतीव स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः ।
स्पष्टार्थेष्वतिविस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिकैः ।।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिः जल्पैर्भ्रमं तन्वते ।
श्रोतॄणामिति वस्तुविप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः ।।

अर्थात् संक्षेप से टीकाकार कठिन शब्दों को बिना स्पष्ट किये 'स्पष्ट हैं' ऐसा लिखकर छोड़ देते हैं किन्तु स्पष्ट अर्थात् सुबोध अर्थ वाले शब्दों को व्यर्थ ही समास, कारक, प्रत्यय आदि अनेक व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ सहित विस्तार में लिखते हैं। कहीं-कहीं पर बिना प्रसंग के ही अनुपयोगी बातों को लिखकर वे पाठक के मन को भ्रम में डाल देते हैं। पढ़ने वाला व्यक्ति मुख्य अर्थ को भूल ही जाता है।

किन्तु मल्लिनाथ ऐसे टीकाकारों से सर्वथा भिन्न हैं। उनकी टीका के विशेष आधार एवं आदर्श पद्धति है जिसका विवेचन यहाँ पर किया जायेगा।

संस्कृत काव्यों पर मल्लिनाथ के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती अनेक टीकाकारों की टीकायें प्राप्त होती हैं। उनकी जानकारी निम्नलिखित सूची से हो सकती है :-

मल्लिनाथ और उनके समकालीन टीकाकार

किरातार्जुनीयम् पर टीकाकार एवं टीकायें :-

(१) मल्लिनाथ
(२) विद्यामाधव, (३) मंगल (४) देवराज भट्ट (५) रामचन्द्र (६) जीवितमालाका (७) प्रकाशवर्ष (८) कृष्णकवि (९) चित्रभानु (१०) एकनाथ (११) जिनराज (१२) हरिकण्ठ (१३) भरतसेन (१४) भगीरथ मिश्र (१५) वैद्यभट्ट (१६) वल्लभ-नरहरि (१७) हरिदास (१८) काशीनाथ (१९) धर्मविजयगणि (२०) राजकुण्ड, (२१) गदासिंह (२२) दामोदर मिश्र (२३) मनोहर शर्मन (२४) माधव (२५) लोकानन्द (२६) बांकीदास (२७) विश्वराम या विश्वसुन्दर (२८) शब्दार्थदीपिका (२९) किसी अज्ञात व्यक्ति की प्रशस्त शाब्दिकव्याप्तिका (३०) नरसिंह (३१) रविकीर्ति (३२) श्रीरंगदेव (३३) नीलकण्ठ (३४) वल्लभदेव (३५) जीवानन्द विद्या-सागर (३६) जगन्नाथ शर्मा (३७) गंगाधर मिश्र।

शिशुपाल वध

(१) चित्रवर्धन (२) वैद्यभट्ट (३) देवराज, (४) हरिदास (५) श्रीरंगदेव, (६) नीलकण्ठ, (७) भरतसेन (८) चन्द्रशेखर कविवल्लभ चक्रवर्ती (९) लक्ष्मी-नाथ (१०) भावदत्त (११) पदार्थदेव (१२) महेश्वरपंचानन (१३) भगीरथ

(५) कविरत्न (६) कृष्णदास (७) चिन्तामणि (८) जनार्दन (९) जनेन्द्र (१०) भरतसेन (११) भगीरथ मिश्र (१२) कल्याणमल्ल (१३) महिमासिंहगणि (१४) रामा उपाध्याय (१५) रामनाथ (१६) वल्लभदेव (१७) वाचस्पति (१८) श्रीगोविन्द (१९) विश्वनाथ (२०) विश्वनाथ मिश्र (२१) शाश्वत (२२) सनातन शर्मन (२३) सरस्वतीतीर्थ (२४) सुमतिविजय (२५) हरिदास सिद्धान्तवागीश (२६) मेघराज (२७) दक्षिणावर्त (२८) पूर्णसरस्वती (२९) मल्लिनाथ (३०) रामनाथ (३१) कमलाकर (३२) स्थिरदेव (३३) गुरुनाथ काव्यतीर्थ (३४) लक्ष्मीनिवास (३५) हरिपाद चट्टोपाध्याय (३६) श्रीवत्स (३७) श्रीवत्स व्यास (३८) दिवाकर (३९) भासद (४०) रविकार मैथिलीय कवि (४१) कनककीर्ति (४२) विजयसूरि ।

संस्कृत-काव्यों की इन उपलब्ध टीकाओं की तुलना करने पर मल्लिनाथ की टीकाओं की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :-

(१) टीका के प्रारम्भ में श्लोकों का लिखना :-

मल्लिनाथ ने काव्यों की टीकाओं के प्रारम्भ के सर्ग में तथा कहीं कहीं पर प्रत्येक सर्ग में श्लोकों की रचना की है ।[1]

उदाहरणार्थ :- रघुवंश के प्रथम सर्ग में -

(१) मातापितृभ्याम जगतो नमो वामार्धजानये
सद्यो दक्षिणदृक्पात संकुचद्वामदृष्टये ॥

(२) अन्तरायतिमिरोपशान्तये शान्तपावनमचिन्त्यवैभवम्
तं नरं वपुषि कुंजरं मुखे मन्महे किमपि तुन्दिलं महः ॥

(३) शरणं करवाणि शर्मदं ते चरणं वाणि चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः कुरु मामम्ब । कृतार्थसार्थवाहम् ॥

---

१. रघुवंश की संजीवनी टीका में ।

अन्यत्र विशेषेण" कथाप्रसंगो वार्तायां विशेषेऽपि वाच्यवत्" इति "विश्वः ।
यहाँ पर "कथाप्रसंग" शब्द का पर्याय गोष्ठी वचन के साथ ही साथ विशेष भी होगा । एतदर्थ मल्लिनाथ ने विश्वकोश को उद्धृत किया है । इसी प्रकार अभिधानम्, अनु शब्दों के लिए भी कोश उद्धृत किये गये हैं । जिनभानु कोई भी कोश नहीं उद्धृत करते हैं ।

तथाभिधानात् - शब्द पर जिनभानु लिखते हैं —"नाम्ना व्यक्ति इत्यिवा अभिधानमिति जाता वैकवचनं तेन युधिष्ठिरः इति वा धर्मात्मज इति वा अजातशत्रुरिति वा यानि तस्य नामानि, तेभ्यः सर्वेभ्यो विभेतीति लभ्यते । अभिधीयते अनेन - क्रियागुणादिरर्थ इत्यभिधानस्य निरुक्तिः । तेन गौणानि तस्य नामानि न लिख्यादिशब्दकल्पानीति लभ्यते "भीत्रार्थानां भयहेतुः" (१।४।२५) इत्यपादान संज्ञायाम्" अपादाने पंचमी (२।३।२८) इति पंचमी सुयोधनस्य भावं परीक्षितु कामेना- भिलषितमिष्टस्यापि च यदभिधानस्य भयहेतुत्वेनोपन्यासने इति स यदि धैर्यं अनुयात् तावता तदभिधानस्य भयहेतुत्वं न निषिद्धमित्याशङ्क्याह - कीदृशाकुलादिव "

"कवीः" शब्द की व्याख्या जिनभानु ने इस प्रकार से किया है —कवीः - सौकिः, कवीरित्युक्तं न व्यासादिभिरिति विदुरादिभि रितिवा । तैस्तादृशप्रभावस्य सुयोध- नस्य समक्षमेव तदीरितास्तव गुणान् वर्णयितुं प्रवृत्ताः अपि अताः प्रात्मन्त इति सर्वातिशायी तवानुभाव इति बोध्यते ।"

भट्टिकाव्यम् पर सम्प्रति उपलब्ध मल्लिनाथ, जयमंगल और भरतमल्लिक की टीकाओं की तुलना करने पर मल्लिनाथ की टीका ही सर्वोत्तम है क्योंकि उनकी टीका अन्वयानुसारी के साथ ही साथ अलंकार, व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ और स्थान स्थान पर छन्दों का भी संकेत करती है जबकि जयमंगल और भरतमल्लिक कहीं-कहीं पर कठिन शब्दों का पर्याय ही लिखकर छोड़ देते हैं । कोशों के प्रमाणरूप में अधिकांश स्थलों पर उद्धृत करना मल्लिनाथ की अपनी विशेषता है । और इस प्रकार वे "नामूलं लिख्यते किंचित" इस अपनी उक्ति का पूर्ण रूप से पालन निर्वाह करें जैसे :—१२-१३ में उक्त शब्द का अर्थ "मणि" मल्लि०, "मूढरत्नं" "जयमंगल" और

"मुद्रिकारत्नम्" (भरतमल्लिक) करते हैं किन्तु मल्लिनाथ उपलशब्द का अर्थ मणि और सम्मत देते हैं "उपलः प्रस्तरे मणौ" इत्यमरः

स्थालीपुलाकन्याय से भट्टिकाव्य के एक ही श्लोक पर "मल्लिनाथ", "जय-मंगला-कार" और "भरतमल्लिक" की टीकायें लिखी जा रही हैं जिनको पढ़ करके ही सुधीजन सबकी टीका शैली में भेद कर लेने में समर्थ होंगे :-

प्रजाध्मानस्य कान्ति धीमं-
त्वं सोदर्यस्यातिलोहितस्य
आनन्दी नाकसदां प्रशान्तिं
पूर्णं विषस्यामृतवत्कुरुष्व ।। १२।२

प्रस्तुत श्लोक पर मल्लिनाथ की टीका :-

हे धीमन् ! त्वं नाकसदां देवानामानन्दन आनन्दयिता सन् । नन्द्यादि: कर्तरि ल्युट् । कान्ति लोकानि प्रजाध्मानस्यापि पीडयतो ल्यन्तं महौद्धत्य बहु-दृप्तस्य समानमुदरं यस्य तस्य स्वोदरस्य एकमातृकत्वादेकोदरस्य अन्यत्रोभयोः समुद्र-संभूतत्वादिति द्रष्टव्यम् । विषस्य कालकूटस्यामृतवदमृतमिव पूर्णं प्रशान्तिं निवा-रणं कुरुष्व । उपमेयस्य विशेषणान्युपमानस्यापि योज्यानि ।।"

जयमंगला :-" हे धीमन् ! त्वं नाकसदां देवानामुपानन्दनः प्रमोदयिता सन् सोदरस्य प्रागुत्पन्नस्य गर्भस्थायां समानमुदरं यस्येति योगविभागात्पथाय: अतिलोहितस्य महता सामर्थ्येन उद्धतस्य कान्ति लोकं प्रजाध्मानस्य पीडयतः प्रशान्तिं प्रशमं पूर्णं कुरुष्व अमृतवत् यथा अमृतं देवानामानन्दनं विषस्य कालकूटनाम्नः सोदरस्य एकस्मिन् समुद्रोदरे स्थितत्वात् कान्ति प्रजाध्मानस्य प्रशान्तिं कृतवदिति ।"

भरतमल्लिक :-"विभुवाक्यमाह हे धीमन् ! प्रजास्वनुविद्युतः त्वम् अमृतवदमृतमिव विषस्य कालकूटस्य इव सोदरस्य रावणस्य प्रशान्तिं पूर्णं शीघ्रं कुरुष्व । की दृशस्य सोदरस्य कान्ति लोकस्य प्रजाध्मानस्यपीडयतः अतिमहता महासामर्थ्येन उद्धतस्य लोहितस्य विषमपि मयकादि कान्ति प्रजाध्मानं स्वतेजसा उद्धतं की दृशः नाकसदां देवानाम् आनन्दनः प्रमोदयिता अमृतमपि देवानामानन्दकं एकस्मिन समुद्रोदरे स्थित-

स्यात् भिन्नमातृकयोरपि सौदर्यत्वं समानमुदरं यस्य सोदरः समानार्थस्य सशब्दस्य सह सौवित्यनेन पक्षे सादेशः एवं यत्र भ्राता सहोदरः इत्यपि स्यात् अनामगोत्रे-त्यादौ उदर्यं शब्देनोदर शब्दोपि गृहीत इति केचित् समानस्य सभावोलोपिकारा-दित्यन्ये "

उपरिलिखित उदाहरणों से मल्लिनाथ की व्याख्या शैली का अनुमान किया जा सकता है।

"नैषधीयचरितम्" पर पहले ही अनेक टीकाओं का उल्लेख किया गया है। इन सभी टीकाओं में मल्लिनाथ और नारायण की ही टीकायें सर्वोत्तम मानी जाती हैं। विद्याधर की " साहित्य विद्याधरी" सबसे प्राचीन टीका है। चाण्डू-पण्डित की नैषध पर " दीपिका" टीका विस्तापूर्ण है और इसमें अनेक प्रकार के सन्दर्भ देखने को मिल जाते हैं। "दीपिका" के अध्ययन से ज्ञात होता है कि नैषधमहाकाव्य का अर्थ बिना प्राचीन परम्परा की अध्ययनविधि के असम्भव है।

यहाँ पर मल्लिनाथ की टीकाओं की विशेषताओं का ज्ञान करने के लिए नरहरि, चाण्डूपण्डित, विद्याधर, जिन तथा नारायण की टीकाओं से तुलना करना आवश्यक प्रतीत होता है।

नैषध १।२२ में आये हुए" लोकयुगम्" शब्द की व्याख्या चाण्डू पण्डित , विद्याधर, मल्लिनाथ और नारायण ने विभिन्न प्रकार से किया है। प्रथम दो टीकाकारों ने इसका अर्थ स्वर्ग और पृथ्वी किया है। जबकि मल्लिनाथ और नारायण के अनुसार "लोकयुगम्" का अर्थ मातृकुल और पितृकुल है। यहाँ पर इन दोनों अर्थों की तुलना करने पर मल्लिनाथ और नारायण की स्वीकृत अर्थ उचित प्रतीत होता है क्योंकि एक सुन्दर स्त्री मातृ एवं पितृ दोनों कुलों का आभूषण होती है। जैसे :- "तिष्ठतु सा पुण्यवती वंशद्वयभूषणायितारोहा।"

मल्लिनाथ की टीकाओं में पाठभेद भी मिलता है। पाठभेद के कारण ही अर्थबोध में भी असमानता दृष्टिगोचर होती है। नैषध ११।६५ में चाण्डूपण्डित विद्याधर, ईशानदेव और जिन"स्वीभावभावितपदाम्" को"भीभावभावितपदाम्" पढ़ते

हैं । विद्याधर इसकी व्याख्या इस प्रकार से करते हैं —

" अथ कन्यका: परिवारलोकश्रवणान्नरपतीनुपायात् तन्वीं तामपनीय कन्यं राजन्यं त्रयिं निन्ये । उपमानमाह - कवीं याचको यथा विधानान्निर्धनात् पुरुषा- दपिमुच्य प्रार्थनां निर्वेद्य वि[illegible] विख्यातद्रव्यं पुरुषं प्रति नयति । उभयविशेषण- माह —श्रिया कान्त्या भाविन भव्यया भाविते दीवित पदे चरणौ यस्यास्तां श्रीभावभावितपदां (दमयन्तीं) । अविमुच्य - याचकापि श्रीभावेन समुल्लिसद्भावेन भावितानि विशालितानि पदानि वचनानि यस्यां ताम् । कुलीनस्त्वं शीलवांस्त्वं चतुर इत्यादि वचनानि भवन्ति याचनायाम् ।

विद्याधर का अनुवाद नारायण के अनुसार ही है किन्तु "श्रीभावभावित- पदाम्" पाठ ही सामान्य अर्थ को द्योतित करता है । नारायण ने "स्त्रीभावभावित- पदाम्" पाठमान करके इस प्रकार से व्याख्या किया है :—

" स्त्रीभावेन स्त्रीत्वेन भावितपदां चालितचरणां गच्छन्तीं चरणचालनेन संज्ञापयन्तीमिमां धीरां (याचनापत्रीं) "यत्र्वा[illegible] इत्यस्मिन् पुंसि सर्वेषु पुल्लिङ्गेषु पदेषु याचनाशब्दो नङ्गङ्गन्तो व्युत्पादित: । शक्तिस्वाभा- व्यात् स्त्रियां वर्तते इति स्त्रीस्वभावेन स्त्रीलिंग वा धार्मितं शोधितं पदं रूपं यस्या- स्ताम् ।"

नैषध १३।४६[1] की व्याख्या विद्याधर, चाण्डूपण्डित , नारायण जिन, और मल्लिनाथ ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है :—

विद्याधर ने "ताम्बूं" के स्थान पर "प्राप्तुम्" तथा " हल्पतो " के स्थान पर "सत्पथे" पाठ स्वीकार किया है । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार से की गयी है —

---

१. ताम्बूं प्रयच्छति न यच्छ्रुतये तां

तत्त्वार्थदीपनि न वैकल्कोटिमाभे

कहाँ पदे निषधराट् किमतो महाना-

मीदृशस्य इव हल्पतौ पि लोक: ॥

की पुरी पंचकोटिमात्रितत्वात्प्रीतिपि स्वैदर्शिदिनिरूपणी । तथा च शब्दार्थेन चतुरः पक्षान् चतुरानपि विजाय वैतान्विसर्गी सत्स्वलक्षणां पुरी पि पक्षे यथा न शारीयकी तथा नलिनात्मनि धीवराणी न महीयसा इत्यर्थः ।"

पंचमी से श्लोकों की मल्लिनाथ और नारायण ने व्याख्या की है। अधिकांशतः विद्वज्जन नारायणी और मल्लिनाथ की संजीवनी टीका को ही जानते हैं। नारायणी टीका अर्थ को बहुत ही स्पष्ट कर देती है जबकि मल्लिनाथ की टीका में अन्वयानुसार शब्दों का स्पष्टीकरण किया गया है। यही कारण है कि मेघदूत की नारायणी टीका विद्वत्समाज में मान्य है। पर, मल्लिनाथ की "संजीवनी" टीका में अलंकार, और व्याकरण का निर्देश प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त मल्लिनाथ की टीका की दूसरी विशेषता यह है कि किसी शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए वे कोशों से उद्धरण भी उद्धृत करते हैं। इसके ठीक विपरीत नारायणी टीका के सम्यक् अवलोकन से विदित होता है कि उसमें अलंकारों का लक्षण और उनका निर्देश कहीं पर भी नहीं किया गया है। व्याकरण सम्बन्धी बातों का संकेत प्रायः नारायण ने भी किया है। इसी प्रकार कोशों का उद्धरण भी नारायण ने अपनी टीका में किया है।

इसके बाद मेघदूत पर वल्लभदेव तथा भरतसेन की टीकाओं से मल्लिनाथ की टीका-पद्धति का परिचय करने के लिए यदि हम प्रयास करें तो ज्ञात होगा कि मल्लिनाथ की ही टीका सर्वोत्तम है क्योंकि इन्होंने अन्वयपूर्वक ही श्लोकों की व्याख्या की है। उदाहरणार्थ उत्तरमेघ के प्रथम श्लोक की व्याख्या उपर्युक्त तीनों टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। ललित शब्द की व्याख्या वल्लभदेव ने "अभिलाषाकुलनारीः" करके ही छोड़ दिया है। मल्लिनाथ ने "ललिताः" का अर्थ "रम्या" किया है। लेकिन भरतसेन ने "ललित" का अर्थ "अभिलाषाः" तो अवश्य किया है लेकिन उसका लक्षण भी उद्धृत किया है क्योंकि यह एक पारिभाषिक शब्द है। इन्होंने "ललित" का लक्षण इस प्रकार से उद्धृत किया है —

"हस्तपादादाकृष्णविन्यास भूमिनाश्यप्रयोजितम् ।
सुकुमाराभिधानैर्न लक्षितं सं प्रकीर्तितम् "

मल्लिनाथ की टीका में यह भी विशेषता है कि वे शब्दों के पर्याय को तो रखते ही हैं साथ ही साथ उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए कोशों को भी उद्धृत करते हैं । उत्तरमेघ के प्रथम श्लोक में "शम्पा:" "प्रासादा:" और "मुरज" शब्द आये हुए हैं जिनका अर्थ वल्लभ और भरतसेन ने भी प्राय: वही किया है जो मल्लिनाथ ने स्वीकार किया है किन्तु मल्लिनाथ ने इन तीनों शब्दों के लिए कोश भी उद्धृत किया है । उदाहरणार्थ शम्पा: तडित्वा: "तडित्सौदामिनी शम्पा" इत्यमर: । मुरजा :— मृदंगा: "मुरजा तु मृदंगे स्या"ढक्कामुरजयोरपि" शब्दार्णवे । अर्द्ध पर्यायवाची: "मर्दभूषणाभ्यामपि स्यात्तथा भारणावाचकम्" इत्यमर: ।

कोशों के अतिरिक्त इन्होंने मेघदूत की अपनी टीका में अलंकारों का भी विवेचन किया है । जबकि वल्लभ और भरतसेन की टीकाओं में अलंकार निर्देश का सर्वथा अभाव है ।

अन्यत्र कुमारसंभव[1] के १।३३ श्लोक की व्याख्या नारायणविरचित विवरण अरुणगिरिनाथ की प्रकाशिका और मल्लिनाथ की संजीवनी तीनों टीकाओं में की गयी है । इन तीनों टीकाकारों ने श्लोक में आये हुए "उद्गिरन्तौ" शब्द का अर्थ "वमन्तौ" किया है । लेकिन मल्लिनाथ ही एक ऐसे टीकाकार हैं जो शब्द के अर्थबोध के साथ ही साथ अन्य शंकाओं का भी समाधान कर देते हैं । उदाहरणार्थ मल्लिनाथ ने यहाँ पर "ग्राम्यतादोष" के निवारण की चर्चा भी कर दी है क्योंकि "उद्गिरण" क्रिया यहाँ गौणरूप से ही प्रयुक्त की गई है । अपनी

---

1. द्रष्टव्य —

अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिः
निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्याम्
स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥ कुमार०.१।३३

इसी बात को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए वे आचार्य दण्डी को भी उद्धृत करते हैं । द्रष्टव्य —

"निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्" अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्य-कक्षां विगाहते ।।"

तात्पर्यबोध में मल्लिनाथ की दृष्टि :-

मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में अनेक स्थलों पर अन्यटीकाकारों से अपना मतभेद भी प्रकट किया है जिसकी ओर यहाँ पर संकेत करना असंगत नहीं होगा ।

उत्तरमेघ के द्वितीय श्लोक में "अलकम्" शब्द का प्रयोग कालिदास ने किया है । अमरकोश के अनुसार "अलक" शब्द पुल्लिंग है और सम्भवतः चरित्रवर्धन ने इसी-लिए इस पाठ के नपुंसकलिंग के होने में त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया गया है । इस सम्बन्ध में चरित्रवर्धन का कथन है कि — "अलकं बालकुन्दानुविद्धमित्ययुक्तः पाठः " अलका-श्चूर्णकुन्तला" इति पुंस्त्वाभिधानात् । प्रत्यभिधानविरोधप्रसंगाच्च ।" किन्तु मेदिनी-कोश में अलक शब्द के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा गया है कि घुंघराले बालों के अर्थ में अलक शब्द पुल्लिंग और नपुंसकलिंग दोनों में होता है ।" अलकाकुटिलरुमाणिस्त्र्यां चूर्णकुन्तले" । मल्लिनाथ ने अलक शब्द के नपुंसकत्व को गलत नहीं ठहराया है और अपने तर्क की पुष्टि में भारवि के प्रयोग "स्वभावबन्धुराण्यलकानि तासाम्" की ओर ध्यान आकृष्ट किया है । मल्लिनाथ ने लिखा है — नाप्यत्र नियतपुल्लिंगताभिनि-वेशोऽपि कोशान्तरमात्र । तथाहि "स्वभावबन्धुराण्यलकानि तासाम्" "निर्धौतान्यलकानि पाटलभूरः कुन्तौ धरः वर्जितः ।" इत्यादिषु प्रयोगेषु नपुंसकलिंगतादर्शनात् ।।" मल्लिनाथ के समान भरतमल्लिक ने इसे अर्धर्चादिगण में होने के कारण भी "अलक" शब्द को नपुंसकलिंगवाची माना है । लेकिन "सिद्धान्तकौमुदी" और "काशिका" के प्रकाशित पाठों में "अर्धर्चाः पुंसि च (अष्टाध्यायी २।४।३१) के गणपाठों में यह शब्द नहीं मिलता है ।

"लिंगानुशासन" के अनुसार केशाभिधान होने के नाते भी इसे पुल्लिंग होना चाहिए और हाथ की वाचकौषध" होने के नाते भी । परन्तु मेदिनी आदि कोशों

पुनर्गृहागमने तमकार्यं तथाविधमेव तया सहापि न पश्येयम् ? इत्यौत्सुक्यं व्यनक्ति ।"

श्यामा[1] शब्द के विभिन्न टीकाकारों ने छः अर्थ माने हैं —
(१) शीतोष्णादिगुणवती (२) षोडशवर्षीया (३) अप्रसूताङ्गना, (४) मधुर-भाषिणी (५) प्रियंगुतुल्यश्यामवर्णा (६) यौवनमध्यस्था ।

सभी टीकाकारों ने अपने अपने मत के विषय में प्रमाण भी दिये हैं। पहले अर्थ के पक्ष में भरतमल्लिक ने —

"शीतेया उष्णगात्री स्याद् उष्णे च सुखशीतला ।
प्रकृत्या सुकुमाराङ्गी सा श्यामा कथिता बुधैः ॥"

इसी प्रकार दूसरा पाठ अन्यत्र मिलता है —

" शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला ।
तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ॥"

(भट्टिकाव्य)

श्री काले महोदय ने एक उद्धरण दिया है उससे अन्य सभी चार अर्थों का समर्थन प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है —

" अप्रसूता भवेत् श्यामा श्यामा षोडशवार्षिकी ।
श्यामा च श्यामवर्णा च श्यामामधुरभाषिणी ॥"

लेकिन मल्लिनाथ को केवल अन्तिम अर्थ ही अभीष्ट है और वे प्रमाणरूप में उत्पल-माला" का वचन "श्यामा यौवनमध्यस्था" प्रस्तुत करते हैं।

यहाँ पर इन छहों अर्थों पर विचार करना है कि कौन सा अर्थ अधिक ठीक है। (१) प्रथम अर्थ तो असमीचीन है क्योंकि वह एक अस्वाभाविक वस्तु किंवा कल्पित तथ्य है। यदि वह स्त्रीगत वास्तविक वैशिष्ट्य के रूप में माना जाय तो असंभव है और यदि प्रियतम के हृदय की आत्मानुभूति के रूप में माना जाय तो समस्त प्रियतमाओं में प्राप्त होने वाला तत्त्व है। (२) दूसरा अर्थ मानने पर इसी पद्य में आया हुआ "बाला" शब्द पुनरुक्तिदोष से दूषित हो जायेगा और

---

१. तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी

अभिव्यक्त हो जायेगा । (3) तीसरा अर्थ मुग्धा, प्रौढा और वृद्धा उसका वाचक हो सकता है यदि सन्तान न हुई हो, साथ ही यह अमंगल का व्यंजक भी प्रतीत होता है ।

यहाँ पर "परिमितवयाम्" होने से कवि का चौथे अर्थ से भी आशय नहीं हो सकता है ।

अब मल्लिनाथ कृत अर्थ की यदि समीक्षा की जाय तो प्रतीत होता है कि उनका अर्थ कवि कालिदास की कल्पना से बिल्कुल विपरीत है । क्योंकि एक ओर तो कवि आगे के श्लोक में उसे "बाला" कह रहा है दूसरी ओर मल्लिनाथ महान टीकाकार होने पर भी उसे "यौवनमध्यस्था" की संज्ञा दे रहा है । "तन्वी" में उद्धृत अनुवादिकाओं में "अतिगोरी और अतिकाली" आ जाती हैं । अतः इसमें तनिक भी औचित्य नहीं है यदि कालिदास की कल्पना में दूर्वादल के पत्तों की तरह अथवा "प्रियंगु" की मंजरी या लतिका की तरह साँवली कालिका का निवास हो । सीता और द्रौपदी आदि श्यामवर्णा की थीं ही ।

दक्षिणावर्तनाथ ने लिखा है —"श्यामा श्यामवर्णा हरितपर्णोच्यते ।" पूर्ण सरस्वती ने भी बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है । प्रमाणस्वरूप "श्यामास्वङ्गम्" की मेघदूत की उक्ति स्वयं प्रस्तुत है । प्रियङ्गुलता, उसकी मंजरी एवं कलिकायें सभी तो श्यामल होती हैं ।

"श्यामाप्रियङ्गुलतावच्छ्यामवर्णा . . . . श्यामा यौवनमध्यस्थेत्यर्थो न न वक्तव्यो, पर्यायस्य अवश्यवक्तव्यत्वात्"

चारित्रवर्धन ने लिखा है — "पंचमं कविधानम् । तत्प्राप्तिपदीपस्य इत्यमेव । आधारे बिन्दु । तदन्तादु बिन्दु प्रत्ययः ।।"

कहीं-कहीं पर मल्लिनाथ अन्य टीकाकारों के समान पदों का ऐसा अर्थ करते हैं जिसमें विचार करने पर भारतीय परम्परागत चली आती हुई मर्यादा का उल्लंघन भी होता है । उदाहरण के "मद्गोत्राङ्कं विरचितपदम्" में "मद्गोत्राङ्कम्" पद का अर्थ वल्लभदेव, चारित्रवर्धन, पूर्णसरस्वती, दक्षिणावर्तनाथ भरतमल्लिक आदि टीकाकारों ने यही किया है कि "जिस विरचित पद के अन्दर मेरा नाम ही चिह्नित हो" उसे वह गाना चाहती होगी । पूर्णसरस्वती कहते हैं —"मदीयनामा-

का विशेष्य । यहाँ पर दोनों पद विशेष्य माने जा सकते हैं "विरचितपदम्" भी और गेय भी । पहले को विशेष्य मानने पर दूसरे को भी उसका विशेषण माना जायेगा और दूसरे को विशेष्य मानने पर पहले को भी उसका विशेषण माना जायेगा । सामान्यतया टीकाकारों ने "गेयम्" का विशेष्य माना है और विरचित-पदानि को विशेषण । विग्रहपक्ष है — "विशेषेण रचितम् विरचितम् , विर-चितं च तत्पदं च विरचितपदम् । दोनों प्रकार से वाक्य "प्रच्छेदक" नामक लास्याङ्ग से ही है । उसका लक्षण है — "अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेद-मन्युना । वीणापुरस्सरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः ।" इसी बात को कवि आगे भी कहेगा — "कृष्टः स्वप्ने कितव रमयन् कामपि त्वं मयेति" ।

उत्तरमेघ के २५ वें श्लोक में "शुद्धस्नान" शब्द आया हुआ है जिसका अर्थ मल्लिनाथ ने तैलादि से रहित स्नान से लिया है "शुद्धस्नानात् तैलादिरहितस्ना-नात्" । उनके अनुसार इसका समासविग्रह — "शुद्धं च तत् स्नानं च शुद्धस्नानं तस्मात् ।" पूर्ण सरस्वती ने "शुद्धस्नान" का अर्थ तैल, आमलक आदि के प्रयोग से रहित स्नान के लिए लिये ग्राम्य स्नान से माना है "शुद्धस्नानात् तैलाभ्यंगस्नानाभिलेप विरहेण निव-र्तनाभिषेकात्" इन दो टीकाकारों ने शुद्ध का अर्थ "केवल" लिया है । परन्तु भरतसेन ने शुद्ध का अर्थ "पवित्र" लिया है — "शुद्धः पवित्रकारी:" ([illegible]) उन्होंने इसका आशय तीर्थस्नान से लिया है । उनके अनुसार समासविग्रह इस प्रकार होगा — शुद्धाय स्नानं शुद्धस्नानम् ।" परन्तु इस प्रकार का अर्थ देने के बाद उन्होंने भी मल्लिनाथ और पूर्ण सरस्वती की भाँति ही अर्थ किया है । वस्तुतः मल्लिनाथ का अर्थ कम महत्वपूर्ण नहीं है । दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति कवि को इतना अभीष्ट नहीं है क्योंकि दूसरे पद का अर्थ वस्तुतः उसी पर पूर्णरूपेण आधा-रित है ।

मल्लिनाथ कुछ स्थानों पर शब्दों का अर्थ नितान्त स्वेच्छा से करते हैं जिन पर गहराई से विचार करने पर ज्ञात होता है कि मल्लिनाथ की मान्य अर्थ कवि कालिदास के प्रतिकूल है उदाहरणार्थ - उत्तरमेघ के ३५ वें श्लोक में तथा पूर्वमेघ के पहले श्लोक में "रामगिरि" शब्द आया है । "रामगिर्याश्रमेषु" का समास-

अधिकांश टीका तो यह "रामगिर्याश्रमेषु" के स्थान पर "चित्रकूटाश्रमेषु" और "चित्रकूटाश्रमस्थः" किया छन्दोभङ्ग के ही लिख रही थी। कालिदास का परिचय तो राम के चित्रकूट से भी है क्योंकि उन्होंने रघुवंश में लिखा है — "दृप्तः ककुद्मानिव-चित्रकूटः" (रघु० १३।४७) । श्री वी० वी० मिराशी जी "रामटेक" को "रामगिरि" तथा पराञ्जपे महोदय रामगढ़ को "रामगिरि" मानते हैं।

"पूर्वमेघम्" के १४ वें [1] श्लोक में "निचुल" और "दिङ्नाग" को मल्लिनाथ ने कालिदास का समकालीन माना है। इस अर्थ मल्लिनाथ ने श्लेष के द्वारा ही निकाला है। उनके अनुसार निचुल जो कि एक सरस कवि थे, दिङ्नाग के प्रतिस्पर्धी थे।

"स्थानादस्मात् सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खम्" श्लोक की व्याख्या पाठक महोदय ने इस प्रकार से की है :—

"From this place, abounding in wet canes, rise into the sky with thy face to the north, avoiding on by way contact with the massive trunks of the quarter elephants, thy movements being watched by the silly wives of the siddhas with their uplifted faces, full of surprise as if the wind were carrying away the crest of the mountain."

"From this place where stands thy champion निचुल, ascend, O Muse, the heaven of invention, holding up thy head and avoiding in the course of thy effort, the salient faults indicated by दिङ्नाग with his hands while thy flight is admired by good poets and fair women filled with surprise and looking upwards as if the genius of the almighty दिङ्नाग, were eclipsed by these."

---

१. स्थानादस्मात् सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खम्
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥

अब यहाँ पर 'दिङ्नाग' और 'निचुल' के विषय में निश्चित जानकारी प्राप्त करना समीचीन प्रतीत होता है। दिङ्नाग और निचुल कालिदास के समकालीन न रहे होंगे क्योंकि कालिदास ने इन दोनों की ओर प्रस्तुत श्लोक में संकेत नहीं किया है।

वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग थे। वसुबन्धु का समय विभिन्न विद्वानों के अनुसार चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना जा सकता है। ये वसुबन्धु संस्कृत गद्य के 'वासवदत्ता' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के लेखक नहीं माने जा सकते और न ही इनको काव्यालंकार सूत्र III.२.२. के साभिप्रायत्वं यथा — सो ऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा। जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः ॥ आश्रयः कृतधियामित्यस्य च सुबन्धु साचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्' (N.S.P. ed. 1895, Page32) के आधार पर चन्द्रगुप्त का पुत्र ही माना जा सकता है।[1]

ये वसुबन्धु या सुबन्धु इन सबसे सर्वथा पृथक् आचार्य थे। 'अवन्तिसुन्दरी कथा' के अनुसार ये सुबन्धु मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य और उनके पुत्र बिन्दुसार के समकालीन थे। इस 'अवन्तिसुन्दरी कथा' तथा अभिनव भारती के द्वारा यह भी बात सिद्ध होती है कि सुबन्धु ने 'वासवदत्ता नाट्यधारा' नामक नाटक लिखकर बिन्दुसार के हृदय को सम्मुग्ध कर लिया था।[2]

---

१. V.A. Smith, E.H.I. P.P. 346-47 तथा M. Peri's Work in B.E.F.E.O.

२. द्रष्टव्य - Ram Krishna Kavi's Paper 'Avanti Sundari Katha of Dandin' in the proceedings of the Calcutta Oriental Conference Page 196,

रंगस्वामी सरस्वती के लेख 'वसुबन्धु या सुबन्धु' in ibid, Page 203-213 तथा एक अन्य लेख (I.H.Q. Vol.I, Page 261-264 पर)

८. ऐसा प्रतीत होता है कि निचुल शब्द की कल्पना मल्लिनाथ ने सरस शब्द की कि "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" का परिचायक है, के आधार पर की है।

९. मल्लिनाथ के मत के खण्डन में यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी प्रमाण के अभाव में "निचुल" को दिङ्नाग" का प्रतिस्पर्धी बतलाना असत्य है। यह भी बात समझ में नहीं आती है कि बौद्धदार्शनिक "दिङ्नाग" की कालिदास से प्रतिस्पर्धा क्यों थी?

१०. मल्लिनाथ का श्लेष के आधार पर "दिङ्नाग" और "निचुल" कवि की कल्पना करना भी विचारहीनता एवं भ्रान्ति का द्योतक है क्योंकि कालिदास की शब्दालंकार के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं प्रतीत होती है। मल्लिनाथ ने न केवल यहाँ पर ही बल्कि अन्यत्र भी मूलपाठ के विपरीत टीका की है, जो कि असंगत एवं दोषपूर्ण है। उदाहरणार्थ रघुवंश ४-४७ में चन्द्र का मल्लिनाथ ने सिन्धु-पाठ माना है। इसी प्रकार "विदग्धहोलोचित दन्तपङ्क्तिः" (शिशुपालवध-१।६०) का "विलासिनीविभ्रम दन्तपत्रम्" (रघुवंश४-६७) से सम्बन्ध करना अनुचित है।

अतः मल्लिनाथ का श्लेष के माध्यम से "निचुल" और "दिङ्नागानाम्" शब्दों का अर्थ निचुल और दिङ्नाग कवि का अर्थ मानना और फिर उनको कालिदास का समकालीन बतलाना असंगत है तथा भविष्य के कथन की अपनी बात की सम्पत्तिपूर्ण सिद्ध करने के लिये उद्धृत करना समीचीन न होगा -

(३) कोशों, कोशकारों, ग्रन्थों एवं कवियों का उल्लेख :-

मल्लिनाथ की टीका की तीसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी प्रत्येक टीका में अनेक कोशों द्वारा किसी शब्द के अर्थ की प्रामाणिकता को सिद्ध किया है। मल्लिनाथ के उद्धरणों से न केवल उनके पाण्डित्य का अनुमान होता है अपितु इन ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों से संस्कृत साहित्य के इतिहास की बहुत महत्व-पूर्ण सामग्री प्राप्त होती है जिनके अध्ययन एवं चिन्तन से अनेक संस्कृत के कवियों एवं लेखकों के जीवन काल एवं कृतियों के निर्धारण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

अब यहाँ पर विभिन्न टीकाओं पर उद्धृत किये गये कोशों एवं कोश-कारों का उल्लेख किया जा रहा है :-

रघुवंश की संजीवनी टीका में उद्धृत किये गये ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार :-

१. अमर
२. अलंकार
३. आश्वलायन
४. आश्वलायनानां सामन्यामन्त्र
५. आगमः
६. आचार्याः
७. आपस्तम्बः
८. आरुणशाखा
९. आश्वलायन परिशिष्ट
१०. आपिशलिः
११. उणादिसूत्राणि
१२. उत्पलमाला
१३. कात्यायन :
१४. कामन्दकः
१६. कुमारसंभवः
१७. कूटस्थीयम्
१८. केशवः
१९. कैयट
२०. कोशः
२१. कौटिल्य
२२. क्षीरस्वामी
२३. गणरत्नमहोदधि
२४. गणव्याख्यानम्
२५. गार्ग्यः
२६. गीता
२७. गोनर्दीयम्
२८. गौतमः
२९. घण्टापथः

हरिवंशपुराण	८।२७
हलायुध	१।२३,२।२३,३०, ३।५०,८।३३
क्षीरस्वामी	२।५७,६।४६

वैयकों में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार :-

पूर्व वैय -

ग्रन्थ	श्लोकसंख्या
अमर:	१।१,१,२,४,४,४,४,५,५,५,६,६,७,७,७,८,११,१२,१३, १४,१४,१५,१५,१६,१६,१७,१७,१७,१८,१९, १९,१९, २१, २१,२१,२२,२३,२५,२६,२८,३०,३०,३१,३२, ३२,३४,३९, ४२,४२,४४,४४,४५,४७, ४७,४८,४९,५२,५२,५३,५४,५४, ५५,५६,५६,५९,६२,६३
उत्पलमाला	१।२७
कणीष्य	१।९
दशरूपक:	१।३१
दण्डी:	१।१६
निमित्तनिदान	१।१७
नृत्यसर्वस्व	१।३५
माघ:	१।९,१०,१२,१३,१७,१८,२७,३१,३३,४१,४१,४७, १।४३,४५,४८
रतिरहस्य:	१।२९
स्कांद	१।३३
शम्भुरहस्य	१।६०
शब्दार्णव:	१।१,१,१०,११,११,१४,१९,१९,२२,२३,२४,२५,२८,३१,३३, ३५,३६,३९
हलायुध	१।४,२६,३३,३७,४०,४५,५४,५६,६३

<u>उदाहरण में उपयुक्त ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों की सूची :-</u>

विश्व:	१।२,४,५,५,१६,४०,४२,४३
वैजयन्ती	१।३
शब्दार्णव:	१।३,१।१,३,४,५,६,६,१५,१८,३५,४२,४३,५१,५२
शम्भुरहस्य	१।८
संगीतरत्नाकर	१।२३
क्षीरस्वामी	१।४५

किरातार्जुनीयम् :-

१. आलस्य:	१२।४०
२. अमर:— प्रथमसर्ग	१,७,८,८,१०,१२,१५,१६,१७,१८,२४,२४,२५,२८,३१,३२, ३३,३३,३४,३५,३६,३८,३८,४५,४५
द्वितीय सर्ग	२।३,३,४,६,७,९,९,१२,१४,१५,१७,२१,२३,२४,२६,३१, ३१,३५,३९,४१,४२,४३,४३,४५,४६,४७,५०,५१,५२,५३, ५५,५७
चतुर्थसर्ग:	४,५,६,७,११,१२,१५,१५,१६,१७,१७,१८,१९,२१,२५,२६, २६,२८,२८,३०,३०,३१,३१,३२,३५,और ३८
पंचमसर्ग:	१,२,६,९,१०,१३,१४,१६,२०,२०,२३,२५,२५,२५, २९,३१, ३५, ३७,४०,४२,४५,४८ और ५२
षष्ठसर्ग:	१,१०,१७,१८,२९
सप्तम सर्ग	८,८,१२,१४,१७,१७,१९,१९,२२,२२,२२, २५,२८, ३०,३१, ३२,३६,३७,३८,३८ और ३९
अष्टमसर्ग:—	२, ६, ९, १२, १२, १६, १८, १८, २५, २७, ३१, ३४, ४३, ४४, ४६ और ५२
नवमसर्ग:—	२,३,३,३,३,६,११,१२,१३,१४,२४,२९,२९,३१, ४८,५३,५४ ७३,७३ और ७५

दशमसर्गः— ४,५,२०,२१,२२,२६,२७,२७,२८,२६,३१,३७,३६, ४४,४०
४१,४२,४६,५१,५२,५३,५३ और ५४

एकादश सर्गः— १,१,४,५,७,१३,१५,१६,१६,२७,३३,३३,३६,४७, ५०, ५६
और ७१

ादश सर्ग :— ७,१७,१६,२०,२३,२४,२४,२५,२६,२८,२६,३६,४२,४७,४८,
५०,५०,५१,५२,५३, और ५४

्योदशः सर्ग :— २,५,६,६,११,१२,१५,२०,२२,२३,२६,२६,३४,३७,३८,३८,
४०,४४,५८,६५,७० और ७०

चतुर्दशः सर्गः— ३,४,७,६,६,१५,१७,१६,२१,२१,२२,३०,३२,३४,३५,३७,३८,
४०,४०,४०,४७,४६, ५०,५५,६४,६४, और ६४

पंचदशः सर्गः— ७,८,१२,१२,१५,१८,१६,२३,२४,२४,३२,३४,४४ और ४५

षोडशः सर्गः— २,४,४,८,६,१२,१२, १३,१३,१७,२४,२५,४०,४२,४५,५१,
५२,५३,५४ और ६३

सप्तदशः सर्गः— ८,१०,१४,१५,३२,४४,५०,५७,५८,५६

अष्टादशः सर्गः— १,६,२०,२०,२४,३०,३२,३२,४० और ४२

३. अभिधानरत्नमाला १।२।२

४. अलंकार सूत्रम् १।१६,१८
२।२४
६।१५
१०।१३,१४,३८ और ५१
११।७३
३।१४

५. आगमः— १२।१२

६. आगत्स्यः— १२।४०

७. कामन्दकः:- १।३१
२।१०,११,१२,३४ और

८. काव्य प्रकाशः:- १।१२,३६
२।१६
३।१८
८।४२ और ४८
११।२२

९. काशिका:- १।३,६,११
५।३६
१४।७,१८,४१

१०. क्षीरस्वामी १।६,२१
१०।३

११. केशव :- २।२१
८।२४
६।७७
१४।३०

१२. कैयटः १।१०
४।१५
५।२२
१३।६४

१३. गणाध्याख्यानम् २।१६,३०

१४. चण्डी ३।६
८।४४
११।४०
१५।२५

वार्तिक :- ९।२३,३४, ८।१५,५५,६९, ९।६२, १०।५४, ११।३८,
१२।५०,५४,१३।५९,६१,१५।२१,३३,५४,८५,
१६।४०,४७,१८।३२,६२,१९।११९

विशेष :- १।४,३२,३४,३५,४३,४७,४७।५१,५५,५५,५८,६०,६१,६२,
६९,६९,७३,७५
२।९,१४,५४,५८,६३,६९,७७,८५,८८,९२,९३,९४,१२७
३।१२,३६,४२,४५,४५,४७,४८,५०,५३,५३,५५,५६,५७,५८,
६१,६७,७३,८२
४।७,८,१३,१९,१९,२१,२४,३१,३५,३६,४०,४०,४०,४०,
४१,४९,५३,५६,५९,६१,६५,६६,६६
५।२,३,३,२१,२१,२१,३७,३७,४८,५३,५४,६२
६।२,१५,२२,७०
७।११,२६,३१,३६,५३,६२
८।४,३०,३४,३४,४८,५२,५७
९।८,१६,१७,३२,३२,५१
१०।२,२,९,१२,२०,६२,९१,९१
११।२०,१४,२०,२२,४५,४७,५६
१२।२,४,५,६,८,८,८,२५,२५,२६,२६,३०,३५,४०,४९,
४९,४९, ६४
१३।३,२७,२८,३८,४१,४४,४४
१४।१६,१६,२८,४२,४४,४४,७४,८४
१५।५,१८,३३,३३,६३,६६,७२,७७
१६। १,२,३,४,५,८,९,१६,२७,३५,४७,५०,५४,५४,५९
६२,७०,७१,७४,७६
१७।१३,२२,२४,२५,४३,४३,५१,६९
१८।१,५,१३,१४,१६,१७,३१,४४,४४,५४,५६,५७,६०,६६,
७१,७९

एकावली में समुदाहृत ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का नाम

'व्यापूर्णं' शब्द किरातार्जुनीयम् (१।२४) में आया है। उसका अर्थ मल्लिनाथ ने 'गोष्ठीबन्धन' और 'चित्रबंध' किया है। इस शब्द का पहला अर्थ तो सामान्यतया विदित है किन्तु दूसरा अर्थ 'चित्र-दीप' बताता है। इसीलिए मल्लिनाथ ने 'विश्वकोश' को उद्धृत करते हुए अपने दिये गये अर्थों की प्रामाणिकता प्रदान की है। 'व्यापूर्णौ बालाद्यौ चित्रबंधेऽपि वाच्यवत्'।

इसी प्रकार 'कषाय' शब्द का मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में स्थान स्थान पर भिन्न-भिन्न अर्थ किया है और तदनुसार भिन्न भिन्न कोशों को भी उद्धृत किया है। उदाहरणार्थ — किरात० ९।७७, १७।६२ और कुमारसम्भव (३।३२) में 'कषाय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। मल्लिनाथ ने पहले 'कषाय' शब्द का अर्थ किरात० (९।७७) में 'कटुल:' किया है। अपने इस अर्थ की प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए वे केशवकोश को उद्धृत करते हैं ' कषायस्तुवरे न स्त्री निर्यासे रंजकादिके। सुरभावपि रक्ते सुन्दरे लगतोऽपि च इति केशव:।

किरातार्जुनीय १७।६२ में भी 'कषाय' शब्द आया है। यहाँ पर मल्लिनाथ ने इस शब्द का अर्थ 'राग:' किया है तथा 'वैजयन्ती' कोश को उद्धृत किया है — 'रागे क्वापि कषायो स्त्री' इति वैजयन्ती।

कुमारसम्भव ३।३२ में 'कषाय' का अर्थ 'रक्त' करते हुए मल्लिनाथ केशव कोश उद्धृत करते हैं — 'सुरभावपि रक्ते कषाय:' इति केशव:।

कहीं कहीं पर एक ही शब्द के लिए मल्लिनाथ ने दो कोशों को भी उद्धृत किया है। उदाहरणार्थ 'विभ्रम' शब्द नैषधीयचरितम् (१५।२४) और (२०।२०) में आया है। पहले स्थान पर विभ्रम का अर्थ भ्रान्ति करते हुए 'यादवकोश' को वे लिखते हैं और दूसरे स्थान पर (नै० २०।२०) पर शोभा अर्थ लिखते हुए वे 'वैजयन्ती' कोश को उद्धृत करते हैं यथा — विभ्रम: संशये भ्रान्तौ शोभायाञ्च' इति यादव:। 'विभ्रम: संशये भ्रान्तौ शोभायाम्' इति वैजयन्ती।

नैषध ११।१०१ में 'द्वापर' शब्द का अर्थ 'द्वापर' नामक तृतीययुग एवं संदेह ये दो अर्थ जीवातु टीका में उपलब्ध होते हैं और 'अमर' तथा 'यादव' कोशों को मल्लिनाथ ने उद्धृत किया है। देखिये — द्वापरौ युग संशयौ' इत्यमरयादवौ।

इसीप्रकार 'प्रसव' शब्द 'उत्तरमेघ' में आया है। विश्वकोश को उद्धृत करते हुए मल्लिनाथ ने इसका अर्थ यहाँ पर पुष्पों के पुष्प एवं फल के अर्थ में किया है।

'प्रसव' का अर्थ 'गर्भमोचन' होता है। विश्वकोश में आया हुआ है कि :- 'प्रसवस्तु फले पुष्पे वृक्षाणां गर्भमोचने' इति विश्व :

पारिभाषिक शब्दों के लिए भी मल्लिनाथ ने कोशों का उल्लेख किया है। यहाँ पर कुछ थोड़े से उदाहरण दिये जा रहे हैं :-

संगीत के अनेक पारिभाषिक शब्दों पर मल्लिनाथ ने कोशों एवं अन्य ग्रन्थों को उद्धृत किया है। तान, मूर्च्छना तथा गान्धारग्राम आदि शब्दों की परिभाषा उन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थों से उद्धृत की है।
'तान' के विषय में वे लिखते हैं -- स्वरान्तरप्रवर्तकी रागस्थितिप्रकृत्यादिविधुरेखा- षड्जामार्षभाष्यसाध्य: प्रधानभूत: स्वरविशेष:। ''तानस्वरालङ्कारौ मत:'' इत्यभि- नवगुप्त:।

'मूर्च्छना' शब्द का अर्थ 'स्वरों के चढ़ाने और उतारने के क्रम से' होता है। 'संगीतरत्नाकर' को मल्लिनाथ उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि --
" स्वराणां स्थापना: क्रान्ता: मूर्च्छना: सप्त सप्त हि"

यक्षिणी अपने पति के वियोग से उत्पन्न मूर्च्छा के कारण ही स्वरों के आरोहावरोह के क्रम को भूल जाती है। इस बात की पुष्टि मल्लिनाथ 'रसरत्नाकर' से करते हैं यथा -- "क्रियमाणयोरवरोहणारोहणयो: स्वरयो: साक्षात्कारो यया मूर्च्छा कथ्यते तथा।"

कुमारसंभव में -- 'उपगास्यताम्' शब्द का अर्थ देवयोनि होने के कारण ऊँचे स्वर में 'गान्धार ग्राम' से गाने से है"। टीकाकार ने नारद की उक्ति को उद्धृत किया है कि -- " षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानवा:। न तु गान्धारनामानं स लभ्यो देवयोनिभि:॥"

इसी प्रकार 'प्लुता' (शिशु ५।१०) शब्द का अर्थ मल्लिनाथ ने घोड़े की गतिविशेष से किया है। इस सम्बन्ध में वे" अश्वलीलावती" को उद्धृत

मल्लिनाथ ने "मधम" शब्द लिखा है और उसकी सम्पुष्टि करने के लिए विश्वकोश को इस प्रकार से उद्धृत किया गया है —" मधेऽमृतार्थं तल्पाने पाक्षिकृताभिला-षयो: " इति विश्व: ।

'त्रिकम्' शब्द का अर्थ 'पृष्ठवंशाधरम्' करते हुए अमरकोश को वे इस प्रकार से उद्धृत करते हैं — पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमर:

अत्यन्त छोटे बच्चे के लिए 'तर्णक' शब्द का प्रयोग माघ ने "शिशुपालवधम्" के (१२।४१) में किया है । टीकाकार मल्लिनाथ ने 'तर्णक' का अर्थ अतिबालवत्स:" किया है और अपने अर्थ की सप्रमाणता सिद्ध करने के लिए अमरकोश को उद्धृत किया है यथा —

"वत्सो बालवत्सु तर्णक:" इत्यमर:

पूगीफल के लिये नैषधकार ने 'नैषधीयचरितम्' में (७।४६) " उद्वेग" शब्द का प्रयोग किया है । जीवातु टीकाकार ने 'उद्वेगम्' का अर्थ 'पूगीफलम्' किया है । अमरकोश को उन्होंने उद्धृत भी किया है वे —"घोण्टा तु पूग: क्रमुको गुवाक: खपुरो स्य तु फलमुद्वेगम्" इत्यमर: ।

इसीप्रकार 'नैषध' महाकाव्य में तथा अन्य काव्यों की टीकाओं में मल्लिनाथ ने कुछ विशिष्ट शब्दों के लिए कोशों को उद्धृत किया है । उदाहरणार्थ —" कर्क शब्द श्वेत घोड़े को कहा जाता है । श्रीहर्ष ने नैषध के तेरहवें सर्ग के २३ वें श्लोक में "कर्काणाम्" शब्द का प्रयोग किया है । इस शब्द का पर्याय मल्लिनाथ ने 'श्वेताश्वानाम्' अपनी 'जीवातु' टीका में लिखा है । इस सन्दर्भ में उन्होंने वैजयन्तीकोश को उद्धृत किया है । वह इस प्रकार है :—
" कर्क: कौंकिणे मधुरो कुल्लाश्वे पक्षी कर्ड" इति वैजयन्ती

रघुवंश (२।६०) में गृष्टि शब्द का प्रयोग कालिदास ने किया है । मल्लिनाथ ने इसका अर्थ 'सकृत प्रसूता गौ:' स्वीकार किया है और हलायुध कोश को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है जैसे — गृष्टि: सकृत् प्रसूता गौ:" इति :

इसके अतिरिक्त उन्होंने काव्यशास्त्र के कुछ विशिष्ट एवं प्रसिद्ध "दोष" और "महाकाव्य" जैसे शब्दों की सप्रमाण व्याख्या की है । जैसे शिशुपाल-

पौराणिक कथाओं का उल्लेख :-

मल्लिनाथ ने प्रायः अपनी टीकाओं में विशेष स्थलों पर श्रुतियों एवं पौराणिक कथाओं का उल्लेख किया है जिनकी यहाँ संक्षेप में चर्चा अपेक्षित है। जैसे --बाणासुर युद्ध में भगवान् शंकर की विष्णु के द्वारा पराजित की गयी थी। शिव की इस पराजय का लाभ उठाकर कामदेव ने विष्णु की मैत्री को प्राप्त कर लिया तथा निःशङ्कभाव से वह द्वारकापुरी में निवास कर रहा था।[1] शिशुपालवध में आये हुए इस प्रसंग की प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए मल्लिनाथ पौराणिक कथा का उल्लेख करते हैं --

"पुराकिल भगवान् भक्तवत्सलो धूर्जटिर्बाणप्रियाणाभियोधिनम् हरिमभियुध्य निर्जित" इति पौराणिकाः"

इसीप्रकार पौराणिक कथाओं का उल्लेख शिशुपालवध ६।१३, ११।३, १४।४४ तथा १८।४० में किया गया है।

किरातार्जुनीयम् महाकाव्य की "घण्टापथ" टीका में भी मल्लिनाथ ने अनेकस्थलों पर स्मृति महाभारत तथा अनेक पुराणों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।[2]

"संजीवनी" तथा "जीवातु" एवं "सर्वपथीना" टीकाओं में भी श्रुतियों, स्मृतियों एवं पुराणों से अनेकशः उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।[3]

नैषध की "जीवातु" टीका में मल्लिनाथ ने १२-८०, १३-१५, १४-९०, १५-८२, १७-४६, १७-४८, १७।६३, १७।१०३, १७।१४२, १७-१४५, १७-१६६, १८।५८ तथा २०-११८ में पौराणिक कथाओं तथा स्मृतियों का उल्लेख किया है।

---

१. शिशुपालवध ३।६१

२. किरातार्जुनीयम् १।११, १४।१८, १३।४७, १३।४५, १७।११ और १७।५

३. कुमारसंभव- ३।१, २, १७, १७, १७, १८, १८, २१, ४।३३, ५।१६, ५।२०, ५।२५ और ८।८२

रघुवंश - ३।४२ ४।७७, ६।३२, १०।१६, १०।७४, १०।७४ इत्यादि भूमिका १।७७

<u>कवि समय का निर्देश</u> :-

अपनी समस्त टीकाओं में कोलाचल मल्लिनाथ ने कवि समय या प्राचीनकाल से चली आती हुई प्रसिद्धियों का भी स्पष्ट उल्लेख किया है जब कि उनके समकालीन वल्लभदेव ने कहीं पर भी इनका उल्लेख नहीं किया है उदाहरणार्थ - उत्तरमेघ १।१५ में "दोहद" शब्द की व्याख्या मल्लिनाथ ने वृक्षादि के कुसुम का कारण संस्कारद्रव्य माना है। वल्लभदेव ने अपनी "पंजिका" टीका में "दोहद" शब्द का अर्थ "सेकाभिलाष" कहते ही छोड़ दिया है। रामानन्दी ने "अयमिच्छामात्र-वाच्यपि विशेषेण गर्भिणीच्छायाम् प्रवर्तते" ऐसा अर्थ दोहद का किया है। किन्तु हमारे प्रमुख टीकाकार कोलाचल "मल्लिनाथ" ने "दोहद" शब्द विशेष लक्षण "शब्दार्णव" से कहते हुए "दोहद" भी गिनाये हैं - "तरुगुल्मलतादीना-मकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया"। उनके द्वारा गिनाये गये "दोहद" दस प्रकार हैं - "स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधु-गण्डूषसेकात् पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्। मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः"

राजहंस मानसरोवर के हिमाच्छादित होने के कारण उसे त्याग कर अन्यत्र चले जाते हैं। हिम राजहंसों के लिए रोग का कारण होता है। किन्तु वर्षा ऋतु में अन्यत्र गये हुए राजहंस पुनः वापस आ जाते हैं। यह कवि प्रसिद्धि है। (पूर्वमेघ श्लोक ११)

कैलाशपर्वत खिले हुए कमलों से युक्त है तथा ऊँचाई में अपनी उच्च चोटियों से आकाश को स्पर्श करता हुआ शिव के अट्टहास के समान विराजमान है। यह पर्वत तो हिमाच्छादित होने के कारण अपनी धवलिमा के लिए विश्वविख्यात है। कवि समय के अनुसार "हास" को भी धवल ही माना गया है। मल्लिनाथ ने यहाँ पर "हासादीनां धावल्यं कविसमय सिद्धम्" लिखा है। (पूर्वमेघ ५८ वाँ श्लोक)

नैषध में भी "जलधरश्यामी मान्त्रं यान्ति हंसाः" ऐसा प्रयोग आया है।[1] वैसे —इसी प्रकार इसी महाकाव्य में अन्यत्र भी कवि समय का उल्लेख किया गया है। "मीनाः स्वकान्तानुकूलाने प्राणेण मण्डलानि कुर्वन्ति"[2]

ज्योतिष का उल्लेख :—

श्लोकों की टीका करते समय मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में 'सामुद्रिकशास्त्र' से भी उद्धरण दिये हैं —उदाहरणार्थ - राजा नल के पैर में ऊर्ध्वरेखाओं का होना शुभ लक्षण का द्योतन करता है (ऊर्ध्वरेखां राजपदः सर्वोत्कर्ष" भविष्य प्रकारान्" नैषध ६।७। सूर्यमण्डल के प्रकाश से ही चन्द्रमण्डल में प्रकाश होता है।[3] दमयन्ती की योनि पीपल के पत्ते से भी अधिक सुन्दर होने के कारण ज्योतिष शुभशकुनों से युक्त थी।[4] (अश्वत्थदलाकारं गुह्यं गुह्यमपि निश्चितम्। यस्याः सा कुशला नारी धन्यापुत्रवती भवेत्।)

पिता के मुख के समान मुखवाली कन्या तथा माता के मुख के समान मुख वाला पुत्र ज्योतिष के सिद्धान्तानुसार शुभ माने जाते हैं[5] (धन्या पितृमुखीकन्या धन्यः मातृमुखः सुतः)

सप्तर्षिमण्डल ध्रुव से भी अधिक ऊँचाई पर स्थित है।[6]
(सप्तर्षिमण्डलं ध्रुवादपि ऊर्ध्वमिति ज्योतिषकाः)

पार्वती के साथ वसुओं वाले पैर आगे की ओर उठे हुए और पसुओं का स्पर्श करने वाले थे।[7] ज्योतिष के अनुसार यह शुभ माना गया है और इस

---

१. नैषधीयचरितम् ११।२०
२. ,, १।७१
३. ,, ७।५०
४. ,, १३।११
५. कुमारसंभव १।२६
६. ,, ६।३३
७. किरातार्जुनीयम् - ३।६ (यत्राकृतिः तत्र गुणाः वसन्ति)

प्रकार की स्त्री निश्चय ही राजा के सम्पर्क में जाती है। आकृति में ही गुण रहते हैं।

राजा नल कवि और विद्वानों के बीच में रह कर प्रति दिन उसी प्रकार उदय को प्राप्त होता था जिस प्रकार सूर्य बुध और शुक्र नक्षत्रों के योग में तेजस्विता को प्राप्त होता था। ज्योतिषशास्त्र में 'बुधशुक्रौ तदा पूर्वापरराशिस्थितौ' कहा गया है।[1]

महाराज नल का पैर ऊर्ध्व रेखाङ्कित था।[2] ज्योतिष के अनुसार हाथ पैर का ऊर्ध्व रेखाङ्कित होना शुभ माना गया है। नैषधकार की कल्पना है कि क्या विधाता ने नल के पैर को ऊर्ध्व रेखाङ्कित करके उसे सौन्दर्य और शौर्य में सबसे बढ़ कर बनाया है? मल्लिनाथ ने इस सम्बन्ध में ज्योतिषशास्त्र से उद्धरण दिया है कि —

'ऊर्ध्वरेखा करे यस्य स यशस्वी सुखी सुधीः
चरणे च भवेद्यस्या तन्निर्देश्यं फलान्तरम्'

<u>छन्दों का निर्देश</u> :—

मल्लिनाथ ने अपनी सम्पूर्ण टीकाओं में छन्दों का निर्देश भी किया है तथा साथ ही उनका लक्षण छन्दशास्त्र के ग्रन्थों के बिना नामोल्लेख के ही किया है। यदि सम्पूर्ण सर्ग में एक ही छन्द रहता है तो सर्ग के प्रारम्भिक श्लोक में स्पष्ट रूप से लिखा रहता है कि 'इस सम्पूर्णसर्ग में अमुक छन्द है'।

प्रायः सर्गान्त में छन्द परिवर्तन हो जाता है अतः उस श्लोक की व्याख्या करते समय छन्दों का निर्देश भी कर दिया जाता है। लेकिन चित्रभानु, वल्लभदेव, भरतसेन तथा अरुणगिरिनाथ आदि टीकाकार छन्दों का विवेचन ही नहीं करते हैं। यदि किसी श्लोक में अनेक छन्द रहते हैं तो उसकी भी चर्चा

---

१. नैषध० – १।१७

२. नैषध० १।१८

पाठान्तर का विस्तृत विवेचन "पाठालोचन" के अध्याय में विस्तार से किया जायेगा ।

अलंकारों का विवरण :-

अलंकारों का उल्लेख भी मल्लिनाथ ने किया है । कहीं-कहीं पर अलंकारों का लक्षण भी किया गया है । नारायण, चित्रभानु, भरतमल्लिक आदि ने अपनी टीकाओं में अलंकारों का न तो उल्लेख ही किया है और न कहीं पर लक्षण ही दिया है । मल्लिनाथ ने आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश, आचार्य दण्डी के काव्यादर्श और भामह के "भामहविवरण" से अलंकारों का लक्षण दिया है । अलंकारसर्वस्वकार और विद्याधर की "एकावली" से भी अलंकारों को उद्धृत किया है । अनेक स्थलों पर अलंकारों का केवल उल्लेख ही किया गया है जैसे -किरातार्जुनीय के ४।१,२,३ में जहाँ पर श्लोकों में अलंकार बहुत स्पष्टरूप से प्रतीत होता है वहाँ पर केवल अलंकार का नामोल्लेख अर्थ "स्फुट" है ऐसा लिख कर छोड़ दिए हैं । हाँ, यदि किसी स्थल पर दूसरे अलंकारों का संदेह होता है, तो मल्लिनाथ वहीं ही विस्तार के साथ अलंकार का उल्लेख कर देते हैं ।[1] किरात० के १४।५० में श्लेष और उपमा में भ्रान्ति पाठकगण में ही सकता है इस संदेह को दूर करने के लिए ही मल्लि० उदाहरण उपमा को सिद्ध करते हैं । उनके ही शब्दों में -" सर्वसाधर्म्याभियुक्ता, न श्लेषः उभयमात्रसाधर्म्यात्"

मल्लि० अलंकार और ध्वनि के भेद को भी भलीभाँति जानते थे । ऐसे स्थलों पर जहाँ पर कि अलंकार और ध्वनि के निर्धारण में संदेह होता है वहाँ पर इन्होंने मम्मट को प्रामाणिक आचार्य मान कर उद्धृत किया है ।[2] उदाहरण के लिए शिशुपालवध ५।१६ में तुल्ययोगिता, समासोक्ति, श्लेष और ध्वनि के निर्धारण में पाठक के संदेह को दूर करने के लिए मल्लिनाथ लिखते हैं कि -" नैवं तुल्ययोगिता प्रकृताप्रकृतविषये सम्भूतत्वाभावात् । नापि समासोक्तिः, तस्याः विशेषणसाम्यमात्रोत्थापितत्वात् । नापि श्लेषः उभयश्लेषविशेष्यश्लेषयोगात् ।

---

१. अत धनुष्मतस्य कुरुस्य लोके प्रसिद्धत्वात्पूर्णेयं नोपमा । (किरात०४।२७)

२. शिशुपालवध ५।१६

तस्मात् प्राकरणिकार्थानामप्राकरणिकाभिधाव्यापारेणोपकल्पनायामितरधीप्रकाशनमिति-रित्याहुः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे (२।१९) —

"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥

कुछ स्थलों पर अलंकार के नामोल्लेख के बाद उसका लक्षण भी मल्लिनाथ उद्धृत करते हैं लेकिन यह नहीं लिखते हैं कि लक्षण किस अलंकारग्रन्थ से है ।[1]

अन्यत्र अस्पष्टता होने पर मल्लिनाथ स्वयं निर्णय नहीं देते हैं अपितु "केचित्" और "अन्ये" ही लिख करके छोड़ देते हैं ।[2]

भट्टिकाव्य में अलंकारों का प्रायेण बाहुल्य है । इस काव्य के टीकाकारों का उल्लेख पहले ही कर दिया गया है । जयमंगला और मल्लिनाथ की "सर्वपथीना" टीकायें ही प्रायः उपलब्ध , प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक मानी जाती हैं । इन दोनों टीकाओं की शैली पर अलंकार के प्रसंग में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है । जिसकी समालोचना एवं विस्तृत विवेचना अलंकार के अनुच्छेद में की जायेगी । यहाँ पर तो केवल बानगी के लिए ही एक या दो स्थलों की ओर संकेत किया जा रहा है । "भट्टिकाव्यम्" के १०।५२ में भट्टि ने उदार" अलंकार माना है । जयमंगला टीका में उदार और उदात्त में अधिक अन्तर नहीं माना गया है और इसीलिए उदात्तालंकार ही जयमंगला टीका में लिया गया है । मल्लिनाथ ने अपनी बहुश्रुतता व्यक्त करते हुए केवल स्वभावोक्त्यलंकार माना है । इसी प्रकार १०।७५ में —जयमंगलाकार ने ऊर्जस्वी अलंकार माना है ।

---

१. देखिये शिशुपालवध ७।५३ में समालंकार की परिभाषा दी लिखी गयी है लेकिन लक्षणग्रन्थ या लक्षणकार का उल्लेख नहीं है । "सा समालंकृतियोगो वस्तुनो-रनुरूपयोः" इति लक्षणात् ।

२. शिशुपालवध १३।४८ और २०।११, कुमारसंभव १।४६

भोज ने भी इसे उदाहरण के रूप में माना है। लेकिन मल्लिनाथ इसे एक पृथक् अलंकार न मानकर के काव्यलिंग के साथ उत्प्रेक्षालंकार का संकर मानते हैं।

व्याकरण का उल्लेख :-

मल्लिनाथ ने अलंकारों की ही भाँति व्याकरण की ओर से भी अपनी दृष्टि ओझल नहीं की है। उनकी टीकाओं में कारक, प्रत्यय, समास, आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। व्याकरण की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए पाणिनि, पतंजलि, कैयट आदि प्रसिद्ध वैयाकरणों के मतों का वे उल्लेख करते हैं। यहाँ संक्षेप में कुछ उदाहरणों से उनके व्याकरण-ज्ञान का परिचय प्राप्त हो जायेगा -- कुमारसम्भव १।२ में 'सौभाग्यविलोपि' के पर लिखते हैं -- 'सुभगस्यभावः सौभाग्यम्। 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' (पा० ७।३।१९) इत्युभयपदवृद्धिः। तद्विलुम्पतीति सौभाग्यविलोपि'

इसीप्रकार कुमारसंभव १।१० में तथा किरातार्जुनीय १।१ में आये हुए 'वनेचर' शब्द पर वे लिखते हैं -- 'वने चरतीति वनेचरः। 'चरेष्टः' (पा०३।२।१६) इति टु प्रत्ययः।

'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (पा०६।३।१४) इत्यलुक्'

मल्लिनाथ के व्याकरण पाण्डित्य का परिचय छठें अध्याय में कराया जायगा।

अध्याय — ५

टीकाओं में पाठालोचन

अन्य रचनाओं के समान संस्कृत-काव्य-रचनाओं में भी अनेक पाठ मिलते हैं क्योंकि आधुनिक काल के समान मुद्रण के यन्त्रों का प्रचार एवं प्रसार प्राचीन काल में नहीं था । आज तो मुद्रण-यन्त्रों के आविष्कार के कारण रचनाओं के सम्पादन की समस्या हल हो गयी है ।

मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में पाठान्तर का निर्देश भी किया है । अन्य टीकाकारों ने भी अपने-अपने ढंग से पाठों का चयन एवं निर्धारण किया है ।

यहाँ पर सर्वप्रथम पाठालोचन के विषय में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करना अपेक्षित है । पाठालोचन को विद्वानों ने पाठ-चयन, पाठ-विज्ञान, पाठ-शोध और पाठानुसंधान आदि अनेक नामों से अभिहित किया है । पाठालोचन का तात्पर्य किसी भी रचना की सम्पूर्ण प्रतियों के निष्पक्ष एवं वैज्ञानिक पद्धति से परीक्षण करके उन्हीं प्रतियों के आधार पर रचयिता के इच्छित पाठ को प्राप्त करने की प्रक्रिया से होता है ।

इस सम्बन्ध में डा० पोस्टगेट के पाठालोचन सम्बन्धी मत को उद्धृत करना असमीचीन न होगा :—

"पाठालोचन पाठ-निर्णय की उस कुशल एवं विधिवत् प्रक्रिया को कहते हैं जो किसी रचना के मूल पाठ के निर्धारण हेतु अपनायी जाती है । पाठ से तात्पर्य ऐसी भाषा से आबद्ध लेख से है जिसका ज्ञान पाठ शोधक को किसी न किसी सीमा तक हो और जिसमें किसी अर्थ की उपस्थिति जिसका निश्चय हो चुका है या हो सकता है, स्वीकार की गई है ।"[१]

मल्लिनाथ, वल्लभदेव, भरतसेन, विजयगुप्त तथा नारायण आदि अनेक टीकाकारों की टीकाओं में जब हम पाठ-भेद में एकरूपता नहीं देखते तब एक बहुत बड़ा प्रश्नवाचक चिह्न सामने आ जाता है कि उनमें से कौन-सा पाठ उचित होगा। जिसको आधार बना कर कवि की काव्य-प्रतिभा, प्रबन्ध-कल्पना, तथा अलंकरण-प्रवृत्ति का मूल्यांकन किया जाय या कवि की ऐतिहासिकता की परीक्षा की जाय।

कहीं-कहीं पर तो मल्लिनाथ का पाठान्तर कालिदास के रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत और अन्य काव्यों में व्याकरण एवं छन्दों की दृष्टि से शुद्ध रहता है लेकिन कवि की मूल रचना में सन्निहित भाव का स्पर्श करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है जिसको सहृदय पाठक ही जानते हैं। उदाहरणार्थ — कुमारसंभव ५।७१ में "पिनाकिन" पाठ मान करके मल्लिनाथ ने इस श्लोक की टीका की है। अन्य टीकाकारों ने "पिनाकिन" के स्थान पर "कपालिनः" पाठ माना है। यहाँ पर दोनों ही पाठ छन्द की दृष्टि से शुद्ध हैं और दोनों का वाच्य अर्थ एक ही है। लेकिन यहाँ पर कवि कालिदास के मौलिक भाव अथवा अन्तर्हित भावना के अध्ययन के पश्चात् ही पाठ-निर्धारण किया जा सकता है जिसको सहृदय आचार्य पुस्तक सहित पाठालोचक विद्वान् निश्चित कर सकते हैं। "कपालिनः" और "पिनाकिनः" पाठों का निर्धारण इस प्रकार किया जा सकता है —
छद्मवेशधारी शिव जी पार्वती को शिव को अपना पति वरण करने से मना करते हैं। कवि का अभिप्रेत भाव पार्वती के मन में शंकर के प्रति घृणा पैदा करना है। इस कार्य में "कपालिनः" शब्द के द्वारा जो जुगुप्सा शिव के प्रति पार्वती को होगी वह निश्चय ही अनासक्ति का कारण बनेगी। "पिनाकिनः" शब्द उस "जुगुप्सा" के भाव को प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ है।

अत: यहाँ पर मल्लिनाथ द्वारा स्वीकार किया गया "फिताफिन:" पाठ कवि की रचना के प्रतिकूल प्रतीत होता है ।

अन्यत्र मल्लिनाथकृत पाठभेद अनेक पुरातत्व साक्ष्यों के आधार पर अप्रमाणित रहता है । उदाहरणार्थ :-रघुवंश ४।६७ में मल्लिनाथ तथा अन्य टीकाकारों ने "वंक्षु" एवं "सिन्धु" पाठ माना है । मल्लिनाथ के द्वारा सिन्धु पाठ माना गया है जो कि उचित नहीं प्रतीत होता है जिसका समाधान आगे किया गया है ।

कुछ स्थलों पर मल्लिनाथ "अपपाठ:" लिख करके छोड़ देते हैं किन्तु अन्य स्थलों पर वे सकारण व्याकरण, छन्द, रस, अलंकार आदि दृष्टियों से पाठ के औचित्य एवं अनौचित्य का निर्धारण करते हैं । जैसे :- "आस्य-कुमुद:" — "आस्यकमल:" शब्दों में "आस्यकुमुद:" पाठ असमीचीन है क्योंकि कमल तो मुख का उपमान माना जाता है कुमुद पुष्प से मुख की उपमा किसी ने नहीं दी है अत: मल्लिनाथ के अनुसार "आस्य कमल:" पाठ ही शुद्ध है ।

मल्लिनाथ ने पाठालोचन करते समय पुनरुक्ति आदि दोषों का स्पष्ट-रूप से संकेत किया है । सभी टीकाओं पर मल्लिनाथ द्वारा किये गये पाठालोचन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि कुछ स्थलों को छोड़ करके उनके पाठालोचन का उद्देश्य रचना के मूल-पाठको प्राप्त करना ही है । उन्होंने अपनी इस उद्देश्य से प्रेरित होकरके ही पाठ-सम्पादन किया है ।

काव्यों की अनेक प्रतियों की प्राप्त पाठ-विविधता के कारण ही पाठ-निर्धारण में पर्याप्त सावधानी करनी पड़ती है । अन्यथा कवि की मौलिक रचना में सन्निहित भाव से हम सर्वथा परे हो जाते हैं । ऐसी दशा में डा० विष्णु सीताराम सुकथनकर महोदय का यह कथन ही उपयुक्त प्रतीत होता है :-

"किसी रचना के मूल-पाठ के साथ जुड़े हुए ऐसे अंशों के सम्बन्ध में, जो सभी प्रतियों में नहीं, प्राप्त होते हैं, विचार करने का एक ही सर्वपूर्ण ढंग है कि वे अंश शेष पाठ से सावधानीपूर्वक अलग कर लिये जाने चाहिए और उनमें एक-एक करके विचार करना चाहिए । ऐसे अंशों को मूल पाठ सिद्ध करने का दायित्व उस व्यक्ति पर होता है जो उन अंशों के मूल पाठ के होने का दावा

करता है। हस्तलिखित प्रतियों का साक्ष्य स्पष्टतः उनके विरुद्ध है। फिर भी इतने मात्र से उनका प्रक्षिप्त होना प्रमाणित नहीं है। कारण यह कि कुछ अंशों का अधिकांश प्रतियों में न प्राप्त होना ही इस तथ्य का सम्पूर्ण प्रमाण प्रमाण नहीं है कि वे अंश प्रक्षिप्त हैं।"[1]

<u>रघुवंश में पाठान्तर :-</u>

<u>(१) सिन्धु (मल्लि०) - वंक्षु</u>

कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में रघु की दिग्विजय-यात्रा का वर्णन करते समय हूणों का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित है :-
"रघु के घोड़ों ने वंक्षु के तट पर लोट करके मार्ग की थकान दूर किया और कुंकुम कणों से धूसरित अपनी गर्दनों को हिलाई। वहाँ पर रघु का पराक्रम हूण की स्त्रियों के पतियों में प्रकट होकर उनके कपोलों की लालिमा में चमक उठा।"[2]

यहाँ पर यह प्रश्न विचारणीय है कि 'वंक्षु' एवं 'सिन्धु' पाठों में से कौन सा पाठ कवि की मौलिक रचना की दृष्टि से ज्यायान् है।

मल्लिनाथ की दृष्टि से तो सिन्धुपाठ उचित माना गया है जिसका समर्थन भाण्डारकर[3] एवं शीदीवाला[4] ने किया है। का०बी० पाठक[5] महोदय ने वंक्षु

---

१. Critical Studies in Mahabharat (V.S. Sukthankar, Memorial Edition Committee, Poona, 1944, Page 246)

२. रघुवंश ४।६७-६८

विनीताध्वश्रमास्तस्य वंक्षु (सिन्धु)तीर विचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुंकुमकेसरान्॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्
कपोलपाटलादेशि(कपोलपाटनादेशि)बभूव रघुचेष्टितम्॥

३. जर्नल आव दि एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल, भाग२३, अंक १(१९५७)पृ०३६-३७

४. जर्नल आव दि बाम्बे ब्रांच आव द रायल एशियाटिक सोसायटी (१९३०), पृ० २७२-७३

५. इण्डियन एण्टीक्वेरी (१९१२), पृ० २६५

पाठ मान करके इसकी पहिचान चीनस्थ नदी से की है । ए०के०[1] आयंगर ने चीनस्थ में जाकर मिलने वाली 'यरकंद' नदी से इसकी पहिचान बतलायी है ।

इस श्लोक के प्रथम पाद की रघुवंश के चतुर्थ सर्ग के ६७ वें श्लोक से तुलना करने पर स्पष्टतः प्रतीत होता है कि यह प्रथम चरण उसका (६७ वें पद्य का) रूपान्तर है । इसमें घोड़ों के लोटने से कुंकुम केसरों के मुरझाने का प्रसंग रघुवंश की कल्पना की मात्र पुनरावृत्ति परिलक्षित होती है । इन पद्यों की भाषा एवं भाव से झलकने वाली समानता निर्विवादरूप से यह घोषित करती है कि नागपुर प्रशस्ति का लेखक कालिदास की कल्पना को उसी की शैली में दोहरा रहा था ।

अतः इस विचार और पद्यों की एकता से यह प्रमाणित हो जाता है कि रघुवंश के उपर्युक्त श्लोक में 'वंक्षु' पाठ ही मौलिक रूप से शुद्ध है । यदि पाठ सिन्धु होता तो यह असंभव था कि नागपुर-प्रशस्ति के रचयिता कालिदास के भाव और भाषा को 'वंक्षु' से भिन्न संदर्भ में स्थानान्तरित कर देता । इन दोनों पद्यों की समता एवं अवलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'कालिदास' ने 'वंक्षु' प्रदेश में घोड़ों के लोटने से कुंकुम की क्यारियों के आलोड़ित होने की कल्पना द्वारा रघु के उत्तरी अभियान का वर्णन किया और नागपुर-प्रशस्ति के लेखक ने इस भावना को लक्ष्मदेव की उत्तरी विजय-यात्रा के वृत्तान्त पर आरोपित कर दिया ।"[2]

कुंकुम के प्रयोग का साक्ष्य :-

उपर्युक्त पाठ-निर्धारण में कुंकुम के साक्ष्य का विशेष महत्त्व है क्योंकि कालिदास की अभिप्रेत नदी कुंकुम के उत्पादन क्षेत्र से सम्बन्धित प्रतीत होती है । अब यहाँ पर कुंकुम के उत्पादन क्षेत्र पर विचार करना आवश्यक एवं प्रसंगानुकूल है । सामान्यतया कुंकुम काश्मीर एवं उसके समीपवर्ती प्रदेशों में होती थी । बर्थोल्डलाउफेर महोदय ने पश्चिमी एशिया को कुंकुम की उपज का प्रधान क्षेत्र घोषित किया

---

१. इण्डियन एण्टीक्वेरी (१९१९), पृ० ६५-७४
२. डा० बुद्ध प्रकाश कालिदास और हूण ।

ह्वेनत्सांग (युवान-च्वांग) ने लिखा है कि बुद्धगया में महाबोधि की दीवार के उत्तर-पश्चिम में एक स्तूप था जिसको यू-किन-स्यांग (कुंकुम) कहते हैं। इस कुंकुम स्तूप के नाम से प्रकट होता है कि इसका निर्माण कराने वाला कुंकुम का कोई व्यापारी था जो इसे वाह्लीकस्तान से भारत बेचने लाया करता था।

थाङ्ण्युग के वृत्तान्त से यह पुष्ट होता है कि कुंकुम भारत के अतिरिक्त उद्दियान, जागुड और बालटिस्तान में पैदा होती थी।

इसके अतिरिक्त ईरान में भी कुंकुम की पैदावार होती थी। प्राचीन-काल में कुंकुम पंजु प्रदेश, ईरान, भारत कोशिया उद्दियान, बालटिस्तान और काश्मीर में उत्पन्न होती थी।[2]

भारतीय ग्रन्थों में भी पंजु प्रदेश के कुंकुम के उल्लेख प्राप्त होते हैं। अमरकोश में कुंकुम का एक पर्याय बाह्लीक दिया गया है।[3] जिससे सिद्ध होता है कि कुंकुम का आदिम स्थान बाह्लीक प्रदेश भी था। जिससे सिद्ध होता है कि कुंकुम का आदिम स्थान बाह्लीक देश था।[4]

१, सैमुएल-बील, बुद्धिस्ट रिकार्ड्स आव द वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग २, पृ० १२६-१२७, १७३, २७४, भाग १, पृ० ६२

२, डा० [illegible] —कालिदास और कुंकुम।

३, अमरकोश, मूर्ध, श्लोक १२३-१२४ शर्मा और सरदेसाई का संस्करण, पृ० १५६

तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्।
द्वितीयं च तुरीयं च न स्त्रियामथ कुंकुमम्॥
काश्मीरजन्माग्निशिखं वरं बाह्लीकपीतने।
रक्तसंकोचपिशुनं धीरं लोहितचन्दनम्॥

४, [illegible] ने बाह्लीक शब्द की अशुद्ध व्याख्या की है। उनके अनुसार यह शब्द बहुल्य से सम्बन्ध रखता है और इस बात का द्योतक है कि कुंकुम का प्रसार बलख से हुआ। ([illegible] का पृ० ३२०) किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। क्योंकि बाह्लीक देश से अभिप्राय बलख देश ही है। यह

(कृपया शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

उत्तर मेघदूत में "स्निग्धगम्भीरघोषम्" पाठ मल्लिनाथ ने माना है। इसका विग्रह उन्होंने इस प्रकार किया है — "स्निग्धौ श्राव्यौ गम्भीरौ घोषौ गर्जितं यस्य तम्।" पूर्णसरस्वती, दक्षिणावर्तनाथादि टीकाकारों ने "स्निग्धपर्जन्यघोषम्" पाठ दिया है। पूर्णसरस्वतीने उस पाठ की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है "स्निग्ध - पर्जन्यघोषम्" मधुरवृष्ट्युपयोगिस्तनितयुक्तम्। "अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्या- दन्नसम्भवः। यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥" इति भगवद्गीतायाम् (श्रीमद्भगवद्गीतायाम् पर्जन्यशब्दस्य वृष्टिवाचकत्वात्।"

वैजयन्त्यां तु — "पर्जन्यौ गर्जदब्देऽपि स्वामी शक्रे पुरन्दरे" इति। वचनात् तदानीं स्निग्धगर्जितघोषमिति व्याख्येयम्"

इस पाठ में पर्जन्यशब्द के दो अर्थ लिये जा सकते हैं —
(१) सुन्दर गरजते हुए बादलों की गड़गड़ाहट वाले (२) मीठी-मीठी गरजने की आवाज वाले। दोनों अर्थों में घोष के विशेषण होने के कारण अधिकपदत्व और पुनरुक्त दोष होगा। इसका परिहार करने का प्रयास दक्षिणावर्तनाथ ने किया है —" अत्र मेघाभिधायिनः पर्जन्यशब्दस्य प्रयोगेणैव सिद्धे घोषशब्दप्रयोगः "कैलासगौरं" इत्यत्र कैलासवत् द्रष्टव्यः"। अतः स्निग्धपर्जन्य घोषम्" पाठ दोषपूर्ण है।

इस प्रसंग में मल्लिनाथ का पाठ प्राचीनता एवं दोषहीनता दोनों दृष्टियों से अच्छा है। मल्लिनाथ के स्निग्धपर्जन्य घोषम्" पाठ के पक्ष में यह प्रमाण भी दिया जा सकता है कि कालिदास ने अपने काव्य "रघुवंश" में पर्जन्याव

---

१. विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः।
सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥
(उ०मे० १)

कमल भी आघातित होकर दो-चार पंखुड़ियाँ ही छीन ली जाती हैं और साथ की जाती जाती फेंक दिये जाने पर रास्तों पर पड़े मिलेंगे, परन्तु यदि अलक कमलों से एक विच्छित्ति विशेष, जो कान्तिमत्ता का नाम दे रहे, न्यारी माय और यह रास्तों पर पड़ी मिले तो अवश्य अभिसारिका का अनुमान हो सकेगा ।

(३) मुक्ताजालैस्स्तनपरिसरैः (मल्लि० — मुक्तालग्नस्तनपरिसरः (परिमवर्धन) परिमवर्धन ने "मुक्तालग्नस्तनपरिसरैः" पाठ माना है । उनके अनुसार मुक्तासु मौक्तिकेषु लग्न स्तनानां कुचानां परिमलः सौगन्ध्यं येभ्यस्तैः । छिन्नानि त्रुटितानि सूत्राणि तन्तवो येषां तैः" केवल मुक्ता ही पड़ी रहने से अभिसारिका का अनुमान नहीं किया जा सकता है परन्तु वक्षःस्थल पर लगाये जाने वाले सुरभित लेप जैसे :— चन्दनद्रव, केसर या कुंकुम और मृगमद आदि, यदि उन मोती के दानों पर कहीं लगे हों तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह अभिसारिका के ही हार का है अतः "मोती के दानों में चिपके हुए वक्षःस्थल के सुगन्ध वाले" यही अभीष्ट होता है । भानुजी दीक्षित के द्वारा उद्धृत कोष के अनुसार "स्यात् परिमलोऽतिमर्दोत्थे मनोहरगन्धेऽपि सुरतोपमर्दोत्थकस्तूरी-रक्तकुंकुमादि सौरभे पुंसि" । मल्लिनाथ का "मुक्ताजालैः स्तनपरिसरैः" पाठ सर्वथा निराकरणीय है । भरतमल्लिक ने बृहस्पति का लक्षण उद्धृत किया है "अपाठः अन्वीक्ष्यमाणाभावात् , अन्वयाभावाच्च" इसके विरोध में उनका तर्क निरर्थक है क्योंकि प्राचीन पाठ वल्लभदेव का है जो इस पाठान्तर के अनुकूल नहीं है ।

(४) श्लोक १० कमल मुकुलैः[2] (वल्लभदेव, पूर्णसरस्वती तथा भरतमल्लिक) — विकचकमलैः (मल्लिनाथ तथा परिमवर्धन) यहाँ पर कमलमुकुलैः और "विकचकमलैः" ये दो पाठ मिले हैं । परन्तु कमलमुकुलैः का ऐतिहासिक वैशिष्ट्य है जो विकच कमलैः" के द्वारा नहीं प्रस्तुत किया जा सकता है । "पतिव्याकुला पद के द्वारा कालिदास ने जिस प्रोषितभर्तृका" प्रियतमा की पतिस्मरणविषयक निरन्तर चिन्ता, काम्यक्रीड़ाओं आदि की कल्पना की है उसके कारण रात्रि-रात्रि विकसित पुष्पों का अवलोकन के कारण केवल कलियाँ ही वापी की शोभा

---

१. उ०मे०, श्लोक ७

२. वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैः स्यूता कमलमुकुलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।

करने से रोका , वारण अर्थ में पंचमी विभक्ति हुई है। "यवेभ्यः गां निवारयति" आदि उदाहरणों से जिससे किसी को रोका जाय या मना किया जाय उसमें पंचमी विभक्ति होती है।[१]

(४) पिनाकिनः[२] :- (मल्लिनाथ) कपालिनः (अन्य)

मल्लिनाथ ने यहाँ पर "पिनाकिनः" पाठ माना है और इसका अर्थ शङ्कर किया है। भगवान् शंकर के अनेक नाम हैं लेकिन यहाँ पर "कपालिनः" शब्द के प्रयोग से कवि के विशेष अभिप्राय की पूर्ति होती है।

प्रस्तुत प्रसंग में "पिनाकिनः" शब्द उस अर्थ को नहीं द्योतित करता है जिसको कि "कपालिनः"। "पिनाकिनः" का अर्थ है सांपों से युक्त भगवान् शंकर और "कपालिनः" कपालों से युक्त। शंकर जी के ये दोनों नाम हैं लेकिन "कपालिनः" शब्द उस जुगुप्सा को प्रकट करता है जिससे कि पार्वती जी घृणित पति का वरण न करें।

इस श्लोक में "सम्प्रति" और "द्वयं" आदि सभी पद अत्यन्त सुन्दर हैं क्योंकि पहले तो अकेली वह चन्द्रमा की कला ही कपाली के समागम की प्रार्थना रूप दुर्व्यसन से दूषित होने से शोचनीया थी और अब तुमने भी (पार्वती ने भी) उसके उस प्रकार के दुर्भाग्यपूर्ण कार्य में सहायता देना प्रारम्भ कर दिया, इस प्रकार ब्रह्मचारी बटु द्वारा पार्वती का उपहास किया जा रहा है। इस श्लोक में प्रयुक्त "प्रार्थना" शब्द भी अत्यन्त रमणीय है क्योंकि काकतालीयन्याय से (अकस्मात) उस कपाली शिव का समागम कदाचित् निन्दनीय न होता। परन्तु उस कपाली के विषय में "प्रार्थना" वस्तुतः कुलीनता के लिए लोकापवाद रूपी कलंक है। (यह भाव प्रार्थना पद से व्यक्त होकर काव्यशोभा की अपूर्वता प्रदान कर रहा है) " सा च" "त्वं च" श्लोक के ये दोनों पद चन्द्रमा की कान्तिमयी कला और पार्वती

---

१. द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्र कौमुदी ।।
कुमारसंभव ५।७१

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
४४.	ताभि्	तौ
४५.	वनायाकर्षमनता	वनाकर्ष" समस्नता
७२.	सर्वमुत्स्था	सैवमुत्स्था
८१.	पणार्भि्	पणार्गम्
६६.	कथमाशापितौ	आशापितौ कथम्
१०२.	निरन्तापम्	परन्तप
१२०.	आयच्छमानयौ:	व्यायच्छमानयौ
१२७.	धनधाजिन:	धनधजिन:
१४४.	भुक्त्वांच	भोगांश्च

<u>सप्तमः सर्गः</u>

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
८.	परिधावी च	परिधावीव
१७.	निरस्तम्	निरस्तम्
१६.	पथिना	पथिना
२३.	प्रावेश्यदुगुरुम्	प्रावेश्यदुगुरुकम्
५८.	क्लमैन निष्काणा	क्लमादनिष्काणा
६६.	सहु०ष्वकाभागरान्	सहु०ष्वजनागतान्
६६.	सृष्टि: पूर्विस्वम्	पू० सृष्टिविस्वम्
८३.	स्यणाकिडौ	स्वराक्डौ
८८.	चटायु संस्तुधावरात्	चटायुं च स्तुधावरात्
६३.	कस्मात्	यस्मात्
६५.	प्रोर्णुविषुम्	प्रोर्णविषुम्
६५. प्रोर्णाविणीम्		प्रोर्णुविणीम्

<u>अष्टमः सर्गः</u>

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
७.	सवा	सेवा
११.	न न संस्थास्यती	न तत्संस्थास्यती

अष्टादश: सर्ग:

श्लोकां०	मल्लिनाथ	अन्य
१.	वन मे	किं वने
३.	त्वं सेनाभिषिक्त:	सेनाभ्यभिषिक्त:
६.	अलाभ्यन्ति	लाभ्यन्ति
१६.	आत्मन:	आत्मनि
२२.	श्रीर्निष्कुष्यति	श्रीर्नङ्क्ष्यति
३४.	पार्श्वे	पक्षे
३५.	पुरा	पुरीम्
३६.	नमन्ति स्म पौरा:	नयत्यन्ति पौरा:
४१.	व्यधुनी स्म	व्यधुनी पि

एकोनविंश: सर्ग:

श्लोकां०	मल्लिनाथ	अन्य
१.	अपमन्यु:	उपमन्युम्
५.	प्रियैर्वार्थं	प्रियैर्वार्थं
७.	मन्त्रिणो च	मन्त्रिण: स्वान्
११.	स्नापयेतासु	स्नापयेतासु
१४.	गत्वापरे	गत्वाते च
१९.	पुरीक्षम्	पुरीध्रम्
२४.	धनै:	धानै:
२८.	सर्वंकषम्	सर्वंसम्

विंश: सर्ग:

श्लोकां०	मल्लिनाथ	अन्य
१.	समुपेत्य तत:सीताम	तत: सीतामुपागत्य
१०	वैदेहि प्रीतये वेदि मानसम्	वैदेहि प्रीतये मानसं पुन:
१४.	प्रीत्या	प्रीता
१५.	रामं गन्तुं वनाय च	रामो गन्तुं वनाय च
१६.	स्वामिनी स्म	स्वामिनि त्वम्

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
३०.	पावकाः	पायकाः
३७.	सातपकिनाम	सातपरिताम्

एकविंशः सर्गः

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१.	न चैनाम्	नैनैनाम्
४.	शुद्धमानसौ	शुभ्रमानसौ
५.	बहुना नापि	बहुनापि
१०.	सर्वैश्च च	सर्वाश्चैत्
१४.	मिशाधास्यन्	मुधाधास्यन्
२१.	सुगन्धिसपुष्पम्	सुगन्धिपुष्पम्
२२.	बकुलकलधारिभिः	बकुलकलशालिभिः

द्वाविंशः सर्गः

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१.	दृष्टमानसम्	दृष्यमानसम्, दृष्टमानसः
३.	अधित्यकाः	अधित्यकाम्
५.	पुलन्ध्यः	पृथग्गाः
८.	पुण्यौषध	पुण्यौषधी ।
९.	पवित्रम्	विचित्रम्
१९.	सम्मुतीमः	सम्मुतीमम्
२०.	नैवम्	न चान
२५.	संविन्ध्यम्	अविन्ध्यम्
३३.	हस्तामर्षम्	हस्तादर्शम्

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
७।१४	मापमान:	मापमान:
७।१५	पुराकृतिस्त्रैणा	पुराकृति स्त्रैणा
७।३७	सखीज्जिहानम्	सखीज्जिहाना
७।४३	स्वजन्म	स्वजन्म
७।४४	पुर:परिस्त्रस्तपृषद्	पुर:सरन्नस्त
७।५२	महत्यकाँ	महत्यम्
७।५३	पूर्णिमास्यम्	पूर्णिमास्यम्, पौर्णिमास्यम्
७।५४	मुखपद्मनस्या :	वदनाब्जस्या:
७।६२	सुधाप्रवाह:	रसप्रवाह:
७।६५	रुचिर:	रुचिरा
७।६५	चिपिटै	चिपिटौ
७।६६	सरूपता	सुरूपता
७।८०	स्तनातटै	स्तनातटै
७।८७	कदम्बप्रतिबिम्बवेशम्	कदम्बम्
७।८८	नितम्बरथेन	नितम्बमथेन
७।८८	यधि	युधि
७।१०४	विधिनापि सृष्टा:	विधिना निसृष्टा
७।१०५	प्रियासखी	प्रियानसी

अष्टम: सर्ग:

८।४	वैमत्य	वैमुख्य
८।५	पुर:स्म	पुन:
८।६	कथाचिदालोक्य	संवीक्ष्य कामिन्कुलजा
८।७	न वातु शेकु:	न शक्नुवन्त्य:
८।७	वाह्यैव निजासनैकरसा:	वाह्यैवनिजासनादैकरसा:
८।१५	कञ्चुकं०क्त	कञ्चुक्त

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	नारायण तथा अन्य
११।१०	पर्याभि:	पर्यौष्ठै:
११।१२	मया नु जग्मु:	मया न जग्मु:
११।१४	सत्याम्	धिष्याम्, धिष्या:
११।१५	कन्या:	धान्या:
११।२४	स्वाक्त	भक्त
११।३७	भवन्त्या:	भवन्त्या
११।४६	पाण्डुकसन्निवेश:	मण्डकसन्निवेश:
११।५२	इच्छणा	भूषणा
११।७६	बलाक्रमणाविक्रम	बलाक्रमणा
११।६६	दशाँश्लिताभासा	दशिँत
११।६६	कुप्य	सुप्य
११।१०५	विनायणाय	विनाणनाय
११।१०७	प्रसुनी	प्रसुनी:
११।१०६	स्तनतटे	स्तनयुगे
११।११०	दधता मुर्ध्नि	दधौ मुर्ध्नि
११।११५	कालोच्य	कालोच्य
११।१२६	पराधे	निराधे

द्वादश: सर्ग:

१२।५	प्रसूनपर्णा	पर्णा
१२।६	न पीयताम्	निपीयताम्
१२।७	तटे	तटे
१२।१५	वृक्षान्निवन:	वृक्षौ
१२।२३	पुरन्दरे	पुरन्दरम्
१२।२७	निर्भरम्	निर्भरम्
१२।३३	विन्मुक्षिती न	विन्माक्षितीनु
१२।३६	माहुलैरानविस्तलोमा	महुलैरानविस्तारोमा

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	नारायण तथा अन्य

चतुर्दश: सर्ग:

१४।३	निष्पंग	सिद्धपंग
१४।२७	पिचमुदैतुमैव	पिचमुपैतमैव
१४।२९	न जानती	अजानती
१४।२९	दैवी	दैव्या
१४।३३	रंगभुमि:	रंगभुमी
१४।३५	अदैशिताम्	आदैशिताम्
१४।३६	लपालक्ष्यम्	लक्ष्यलक्ष्यम्, लक्ष्मलक्ष्यम्
१४।३७	तामदैवद्रीची	तामदैवद्रीचीम्
१४।३७	तां मय्यपि तै	मां प्रत्यपि तै
१४।३८	अनवाप्य	अनिशम्य
१४।३८	कर्मौचितीयम्	कर्मौचिती
१४।४२	दित्सैव	दित्सैव
१४।४३	वचनै	वचसैव
१४।४४	निष्यन्द	निस्यन्द
१४।५२	व्यनैरत्	विनैशु:
१४।५३	तस्यकण्ठे	यन्मतस्य
१४।५४	बाणपातै:	बाणघातै:
१४।५५	प्रालम्बम्	प्रालम्ब
१४।५६	प्रभाव:	प्रसाद:
१४।५७	यान्तुम्	यान्ती:
१४।६०	महान्धकारनिर्वापयिष्यन्	महान्धकारं निर्वापयिष्यन्निव
१४।६३	मर्माविधव्यौपरि	मर्मावधव्यौपरि
१४।६६	सुवन्त्या	सुवन्ती
१४।६७	कृपान्यथा	कृपान्यता
१४।७५	चित्तम्	शीलम्

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	नारायण तथा अन्य
१५।७१	परस्परैणैव	परस्परैणैव
१५।७२	भतारि	जितारि
१५।७५	सतीम्	सती
१५।८५	दिग्धै:	दिग्धै:
१५।८५	किमद:शल्कादपि	किमद:शल्कादपि
१५।८६	कीर्तिमुद:श्रियरी	कीर्तिमुद: श्रियरीम्
१५।८६	मुद:	पिच:
१८।६२	पौरक्रिय:	पौरक्रिया:
१६।३	वेशाभरणै:	वेषाभरणै:
१६।३	सवा पिशने	सर्पपिशाने
१६।१०	विनोदमा .रत	मा.रत:
.१६।११	वीचिमाति:	वीचिमाति:
१६।१३	दर्शिनाम्	दर्शिनै
१६।१६	सुरौपितम्	सुरौपितम्
१६।२४	य.ा नल	यतानल
१६।२६	दाखतां यथा	दकृतां यथा
१६।३३	[illegible]	भार
१६।३३	मुदै	मुदा
१६।३७	विपथम्	विपथे
१६।३६	जनाधिति	जनाधिप:
१६।४१	गृहीता	प्रतीष्टा
१६।५७	ततौ	ततम्
१६।६०	चरणै	चरणौ
१६।६०	हरणै	हरणाम्
१६।६२	प्रतिपिष्यदै	प्रतिपिष्यदै
१६।६३	मल-नाद	मलनाद
१६।६६	अधरा पथै	परापदै

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	नारायण तथा अन्य
१६।८०	परिहत्य	परिहाय्य
१६।८२	तदाकृतम्	तदाकृती:
१६।८४	निवेशितम्	निवेशितम्
१६।८५	ततो गुरुस्तैः	ततो गुरिस्तैः
१६।९०	मिथो न याचावृतु:	मिथो नुयाचातु
१६।९२	पय:स्फुतम्	पय:सुतम्
१६।९७	तदाश्रताम्	तदाश्रताम्
१६।१०६	पाण्डुमण्डलाम्बरा	पाण्डुमण्डलाम्बरा
१६।११४	इति स्मर: शीघ्रमितश्चकार	इतीकर्त्तशीघ्रमित:स्मरो करोद्वधूम्
१६।११६	विदर्भराट्	पराटराट्
१६।१२१	पथाम्	प्रियाम्
१६।१२२	पुरीं निरीक्ष्य	पुरीनिरीक्ष्य
१६।१२४	कथम्	कथमन्यमुत

सप्तदश: सर्ग:

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	नारायण तथा अन्य
१७।१७	वैरमनुस्मरन्	वैरं स्मरन्निव
१७।१९	क्रीतपौरुषणाम्	क्रीतभूषणाम्
१७।२३	कथ्यती	कथ्यती
१७।२६	नि:स्वान्	नि:स्वान्
१७।२८	यांपाषटवैपटवे	यांपाषाटवे पटवे
१७।३२	वृतस्यापि	वनस्यापि
१७।३६	फलेषि	फले ति
१७।३८	श्रीतन्त्रम्	श्रीतन्त्रम्
१७।४१	मारीभिः	मारीभिः
१७।४५	संध्यात्	संध्यात्
१७।४७	सुरते	सुरिते

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	नारायण तथा अन्य
१७।५२	कर्माणि	कर्माणि
१७।५२	अन्यभुक्तौः	अन्यभुक्तानि
१७।५३	वैतुनाथुः	वैतुनाथुः
१७।५८	वैपी पि	वैपीपि
१७।५८	का पिका कंठाा	का पिकाकंठाा
१७।६०	मन्यत्र्यमेव	मन्यत्र एव
१७।६६	विनुवाय	विनुवस्या
१७।७०	प्रियाप्राप्ती	प्रियाप्राप्ती
१७।७०	दैहस्य	भूतस्य
१७।७२	क्षा अपि	क्षापि
१७।७४	समवैतंव	समवैतंव
१७।८१	विभुज्य	विभज्य
१७।८२	स्याच्छन्द	स्वं छिन्दता
१७।८२	नचिन	न किम् ।
१७।८४	बठापकम्	बठापकम्
१७।८७	करशानात्व भूपिष्ठ	करशानात्व
१७।१००	तत्कृती	तत्कृतीः
१७।१०१	पाषण्ड पाश	पाषण्डपाश
१७।१०६	मूढुर्ध्वं	मूढ़ता
१७।१०६	सन्दर्शाम्निमग्रीवः	म्नतग्रीवः
१७।११०	गुरुक्रीडा	गुरुरीडा
१७।१११	मत्तम् कर्णामित	कर्ण इव
१७।११८	मत्तम्	नरम्
१७।१२१	बातिप्रियाय	बातिप्रियाय
१७।१२४	पीत्वाकी	पुष्पाक्रम्
१७।१२४	सूक्ष्मैवा	सूक्ष्मैवा
१७।१३२	भारतीप्रया	भारतीप्रया

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
६।१६	यथाभागम्	यथास्थानम्
६।१६	स्वर्सनिवेशाद्व्यतिलङ्घ्य कीव	स्वसंनिवेश
६।१६	वर्ष्मांशुभिन्नाङ्गुलिरन्ध्रम्	वर्ष्मांशु भिन्नाङ्गु लिरन्ध्रम् वर्ष्मांशुभिन्न ्गुलिरन्ध्रम्
६।२०	प्रतिहारक्षी	प्रतिहारक्षा
६।२२	सन्तु	सन्ति
६।२५	एव	इव
६।२६	तरंगलेखा	तरंगमाला
६।२७	विनीतनागः	विस्तृतकारी: विनीतभागः विस्तृतकारी
६।२८	पर्यांकिला	पर्यांकिला
६।२८	वर्क्ष उन्मुच्य	वाचिष्य
६।३०	यातीति जन्यामवदत्कुमारी	यातीति यान्यानवदत् कुमारी
६।३१	दिवानिर्भूपम्	परेवानिभूपम्
६।३१	विशेषदृश्यम्	विशेषकान्तम्
६।३४	वसुन्धरां विलसन्मौलीः	वन्द्रार्थमौलिर्निवसन्धरां
६।४२	उत्पलपत्रसाराम्	उत्पलपत्र साराम्
६।४५	लोकान्तरगीतकीर्तिम्	देशान्तरगीतकीर्तिम्
६।४७	वात्मनीव	वात्मनैव
६।४८	मधुरां गताषि	मधुरागताषि
६।५१	शैलेयगन्धीनि	शैलेयगन्धानि
६।५५	रिपुश्रियाम्	रिपुश्रियाः , रिपुश्रियः
६।५५	बन्दीकृतानाम्	बन्दीकृतायाः
६।५६	सन्निकृष्टौ	सन्निकृष्टम्, संन्निविष्टम्, सन्निविष्टः
६।५६	दैवतकल्पम्	दैवतकल्पम्, दैवसमानम्
६।५६	पुंनागुलिष्टाम्	नागाङ्गनानाम्

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
७।६६	कम्बुवृन्दम्	कम्बुजालम्
७।७०	रुक्मजालकाग्रा:	रुक्मजालकाग्रा, रुक्मजालकान्ता

अष्टम: सर्ग:

८।६	मध्यमकृती	मध्यमक्रिय:
८।६	क्रमवान्	क्रमशरान्
८।१०	आत्मवत्त्या	आत्मविद्या
८।११	प्रयता: संयमिनाम्	यमिन: संप्रता:
८।१५	पूर्वपार्थिवम्	पूर्वपार्थिव:
८।१६	अपवर्गमहोदयार्थयो:	अपवर्गमहोदयार्थिनौ,
		अभ्युदयमहोदयार्थिनौ:
८।१७	अनपायि	अनपाय
८।२०	ज्ञानमयेन	ध्यानमयेन
८।२३	प्रहितौ	प्रहुतौ
८।२८	आदाय	आजग्मतु:
८।२८	अभ्युपेतलक्षम्	उग्रपीतलक्षम्
८।२८	मधुरत्नमु:	मधुरत्नमु:
८।३१	सत्कृतये	संयतये, संनतये
८।३१	विधौर्न केवलम्	नकेवलं विधौ:
८।३१	परप्रयोजना	परप्रयोजनम्
८।३२	मन्मथे	मन्मथम्
८।३३	शिलगोकर्णनिकेतमीश्वरम्	कुलगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।
८।३३	उपवीणयितुम्	उपवर्णयितुम्
८।३३	उदयावृत्तिपथेन	उदयावृत्तिपथेन
८।३५	परिकीर्णा	विनिकीर्णा

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
८।३६	दयितोरुस्तनकोटिघट्टितम्	दयितोरुस्तनकोटिरन्ध्रयोः
८।३८	अपिपार्श्ववर्तिनाम्	परिपार्श्ववर्तिनाम्
८।३६	कमलाकरालया:	कमलाकराश्रया:
८।४१	शल्मलिविम्बलाम्	शल्मलिविद्रुमलाम्
८।४१	शृङ्गम्	शृङ्गम्
८।४२	पिशङ्गाविलाम्	पिशङ्गाविलाम्
८।४५	गता	गता
८।४६	किं निषिक्ता	वंनिषिक्ता
८।४७	वैणता	वर्णता
८।४७	तर्नपाति:	न पातिस्तदा:
८।४७	सन्धिपाथितालता	सन्धिपाश्रया
८।४८	अपराद्धे पि	अपराधे
८।४६	आपृच्छ्य	आमन्त्र्य
८।५०	आत्मकृतैनवेदनाम्	आत्मकृतान्तवेदनाम्, आत्मकृतांहुवेदनाम्
८।५१	कुसुमोत्कलिकान्	कुसुमोत्कलिकान्
८।५३	वशीभूत:	वशीमत:
८।५६	मयालसंगतम्	गतं मयालसम्
८।५६	पृषतीषु	हरिणीषु
८।६५	अनेक रसस्तथापि	अनेकरसस्तथापि
८।७०	या अभ्यदूषिताम्	या अभ्युदितान्
८।७१	अपनीय	अवतार्य
८।७१	तदन्तस्थमण्डनाम्	कृतान्तस्थमण्डनाम्
८।७२	अलका यामुत	आगत
८।७३	अपादिश्य	उपादिश्य
८।७५	अभिषङ्गजडम्	अभिषङ्गजडम्, अभिषङ्गजडा: मोच्यां विलापम्

श्लोकांक	मल्लिनाथ	अन्य
६।२७	मगधकोसलकेकयशासिनाम	मगधकोसलकेकयशासिनाम्
६।४२	संगतयामन:	संततया मन:, संगतरागया
६।४३	निर्वीधिभि:	निर्वैधिभि:
६।४५	निर्वीधिभि:	निर्वैधिभि:
६।४६	अलताम्	अललाम्
६।४७	रति	रैति
६।५०	गुरोक्त	गुरोक्त
६।५३	स्वकारोपागुरिकै:	प्रेम्णाश्रितम्, स्वगुणाप्रम्णाश्रितम्
६।५४	गुणसंयुतम्	गुणसंगतम्
६।५६	अङ्गै:	अन्य:
६।५८	स्मरत: सुनैनै:	स्मरायत्तु नैनै:
६।५९	तपदि	शिशिर
६।६०	तम्	तै
६।६१	पुइ०ञ	शल्य:
६।६२	परिमोक्ष	परिमोक्ष
६।६२	अभ्युच्छ्रितम्	अभ्युच्छ्रितम्
६।६८	ततुषारशीकरी	ततुषारशीतल:
६।६९	सविवाचकलिम्बधुरंधराधिपम्-	सविवाविलम्बधुरम्
६।७०	स सलिलकुसुमप्रवालसम्पाम्	कुलित
६।७१	मधुराणि	मधुरस्वराणि
६।७५	कैलासगुरुं प्रभवम्	कैलासगुरुप्रभवम्
६।७६	तपस्विसुतम्	तपस्विसुत:
६।७७	स	तस्य
६।७८	दिष्टान्तमाप्स्यति	दिष्टा
६।७९	अन्त्यै	अन्तै
६।७९	प्रथमापराद्ध:	प्रथमापराध:

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
९।८०	भावता	किञ्चता
९।८०	कृष्याम्	कन्याम्
९।८०	गर्भिकां	गर्भिकी

दशमः सर्गः

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
१०।२	सज्योतिः	सज्योतिः
१०।६	प्रफुल्लपुण्डरीकाक्षम्	प्रफुल्लपुण्डरीकाक्षम्
१०।११	गर्भो मध्ये	गर्भो मध्यात् पयोमध्यात्
१०।२२	कालावस्थाचतुर्युगाः	कालावस्था चतुर्युगा
१०।२४	याथार्थ्यम्	याथात्म्यम्
१०।२७	त्वय्यावेशितचित्तानां	त्वदावेशितचित्तानाम्
१०।३०	रत्नानि	तोयानि
१०।३५	कृतसंस्काराः	फलसंस्काराः
१०।४१	परिक्लुतः	परिप्लुतः
१०।४२	सोढम्	सह्यम्
१०।४७	स्वर्नदीनाम्	सुरनदीनाम
१०।५१	द्वैधपाश्रितं	द्वैधीकृतम्
१०।५१	आपधानः	आददानः
१०।५३	प्रवृत्तिं वदी	प्रवृत्तिम् वदमे, निवृत्तिम् वदामे
१०।५३	यत	यः
१०।५७	निर्मन्दरक्ष्मीः	निष्मन्दलक्ष्मीः
१०।६०	गदाशार्ङ्गं	खड्गगदा, शङ्खगदा
१०।६१	हैमपात्रभाजनम्	हैमपात्राम्
१०।६१	भिन्नता	विभिन्नता
१०।६१	उह्यन्ती स्म	उह्यमानम्
१०।६१	वैनाकृष्टपयोमुचा	वैनात्कृष्टपयोमुचा
१०।६२	पर्युपास्यन्त	उपास्यमानम्

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
११।४२	गोपनामके	गोपलाह्वने
११।४३	व्यादिदेश	आदिदेश
११।४५	आतताज्यम्	मारताज्यम्
११।४८	अग्निसात्विक:	अग्निसात्विकम्
११।४९	मज्जागुलि:	मज्जापुलिम्
११।४९	दिव्यताम्	इव्यताम्
११।५०	सत्व:	सत्वम्
११।५०	कल्पवृक्षफलधर्मकाङ्क्षि०णाम्	कल्पवृक्षरसधर्मकाङ्क्षि०णाम्
११।५४	पार्थिवीम्	मैथिलीम्
११।५५	परिग्रहा:	परिग्रहात्
११।५६	नराधिकुला	नपार्थिकुला:
११।५८	वर्त्मनि	वर्त्मनि
११।५९	भीमवेष्टिता वा	भीमवेष्टन:
११।६२	शान्तिमाभिषु	निप्रुशान्त्यम्
११।६४	पिष्यवर्षम्	पिष्यवर्षम्
११।७०	विवरणारिणाम्	विवरवर्तिनम्
११।७२	जाति	ख्याति
११।७४	धेनुवत्सहरणात्	तातधेनुहरणात्
११।७६	आरम्भम्	आरम्भम्
११।८०	लघुदर्शन:	शुभदर्शन:
११।८०	सांख्यिक:	सांख्य:
११।८१	भूमिनिर्मितकोटि	भूमिनिर्मितकोटिना
११।८३	क्रोधमागुणम्	वन्ध्यमागुणम् ।
११।८४	यामवात्	विप्रवाच्य
११।८८	प्राङ्मुखस्य	प्राङ्मुखम्
११।९०	मम	मयि

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
११।६०	अनुगृहीकृत:	अनुगृह:कृत:
११।६१	साध्ययामि	साधयामि

द्वादश: सर्ग:

१२।३	श्रुति:	छवि:
१२।४	पार्थिवाश्रुभि:	नयनाश्रुभि:
१२।५	तत्संश्रुतौ	प्राक्संश्रुतौ
१२।८	मुखरागसमम्	मुखरागसमंजसम्
१२।९	लोपयन	अलोकयन्
१२।१२	मातृबन्धुनिवासिनम्	मातृवर्गनिवासिनम्
१२।१४	दर्शितान	कृष्यितान
१२।१५	अनुष्ठित्य	अनुत्पुष्ट
१२।१७	निदेशात्	निदेशात्
१२।१९	भरत:	शुश्रूयमै
१२।२२	आचरन्	आचरत्
१२।२३	आत्मानं, भ्रान्तश्च,भ्रान्त:	स: भ्रान्तस्तु
१२।२६	वैदेह्या	वैदेही
१२।२७	अतिवृष्टेन	विवृष्टेन
१२।३५	तेनाप्यनभिनन्दिताम्	मतेनाप्यभिनन्दिता
१२।३६	कर्णासौम्याम्	कर्णासौम्याम्
१२।३७	मुग्धा:	परिभवोऽमुग्धपरिभव:
१२।३८	निविशती	निर्विशतीम्
१२।३८	नाम्न:	नाम्ना
१२।४०	विकृष्टाधि:	विकृताधि:
१२।४०	वैरूप्यमपीनरूपत्वेन	वैरूप्यं पुनरूपत्वेन
१२।४२	तथाविधम्	तथाविधा

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१२।४८	शितैर्वाणै:	शैर्वाणै:
१२।४८	यथापूर्वविशुद्धिभि:	यथापूर्व विशुद्धिभि:
१२।५६	आर्तस्य	उत्कस्य
१२।६३	सीतामकायधीक्ष्ण:	सतीवधोद्धताम्
१२।६३	प्राणायीढारिनिग्रह:	प्राणायीढारिनिग्रह:
१२।६५	संसर्ग	संसर्गम्
१२।६७	संवाधवर्तिभि:	संवादवर्त्मभि:
१२।६८	निविष्टम्	निर्विष्टम्
१२।७०	उन्मग्नम्	उन्मग्न:, उत्तीर्ण:
१२।७२	अयथीक्षणा:	अयथीक्षणाम्
१२।७४	चैतनाम्	चैतनाम्
•१२।७६	बन्धन:	बन्धनम्
१२।७६	स्वप्नबुद्ध	स्वप्नबुद्धम्, स्वप्नबुद्धि:
१२।७६	समादम्	मार्दम
१२।८६	सुरद्धिषाम्	सुरद्धिष:
१२।८६	कदलीसुखम्	कदलीमिव
१२।८८	शतधा	पतधा
१२।८६	स रावणशिर: पंक्तिम्	रावणस्य शिर:पंक्तिम्
१२।१००	बालार्क प्रतिमैवासु	बालार्कप्रतिमैया:स्यु:
१२।१०३	पुष्पम्	पुलम्
१२।१०४	संगम्य	संक्रम्य

त्रयोदश: सर्ग:

१३।७	पक्षच्छिदा:	पक्षच्छिद:
१३।७	गोत्रभिदात्	गोत्रभिद:,गोत्रभिद:
१३।८	अस्य	यस्य
१३।१०	संमीलयन्ती	संमीलयन्त्य:

श्लोकांक	मल्लिनाथ	अन्य
१४।५	उदीरयन्ती	उदाहरन्ती
१४।५	स्वर्गप्रतिष्ठस्य	स्वर्गं प्रविष्टस्य
१४।१०	समौलिरक्षोहरिभिः ससैन्यः	समौलिरक्षोहरिभिः सुसैन्यः समौलिरक्षोहरिभिश्च सैन्यः
१४।१०	पौरवर्गः	पौरवर्गम्, राजमार्गम्
१४।११	प्रवृद्धः	प्रबुद्धः
१४।१२	कालागुरुधूमराजिः	कालागरुधूपराजिः
१४।१२	वायुवशेन	वायुवशाच्च
१४।१२	भिन्ना	नुन्ना
१४।१२	रघूत्तमेन	रघूद्वहेन
१४।१३	प्रासादवातायन	विमानवातायन
१४।१८	आवधानम्	आवधानः
१४।२१	वनवाससमेयम्	वनवासदुःखम्
१४।२१	समाम्	समम्
४१२४	उपस्थितः	उपस्थितम्
१४।२५	इन्द्रियार्थान्	इन्द्रियार्थम्
१४।२५	सुखान्यभुङ्क्त	सुखी बभूवुः
१४।२८	फलीनि	फलानि
	किञ्चैः	कैः
१४।३२	सर्वं स्तुवन्ति	पूर्वं स्तुवन्ति
१४।३४	कथामुपेतां	कथामुपेतां, कथांप्रपेतां
१४।३४	सत्यंवामि	सत्यवामि
१४।३६	क्षोणा	मक्षीणाः
१४।४०	मलकैनारोपिता	मलकैनारोपिता, मलकै निरोपिता
१४।४२	निःकृतवाच्यशल्यान्	निर्गतवाच्यशल्यान्
१४।४५	तपोधनेषु	तपोधनेभ्यः

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१५।३०	प्रैणिषु	तथैणिषु
१५।३२	रक्तौ	युक्तौ
१५।३६	निदधौ	निदध्वा
१५।३८	ईक्षितोऽस्थानगौरवम्	अतिगौरवमीक्षितः अधिगौरवमीक्षितः
१५। ४१	यातम्	यातानि
१५।४१	प्रत्यर्पयिष्यती	प्रत्यापयिष्यतः
१५।४३	अनुप्राप्य	अनुप्राप्ता
१५।४४	सुनौ	वधः
१५।४५	जिगीषया	जिघांसया
१५।४७	अन्विष्य	अन्विष्यन्
१५।४८	विनेष्यन्	विधूयन्
१५।४९	अवलम्बिनम्	विलम्बिनम्
१५।४९	ऐक्ष्वाकः	इक्ष्वाकुः
१५।६१	आसीदस्मात्	आसीत्तस्यैव, यस्यासीत्स्यैव, तस्यासीत्स्यैव
१५।६७	नातिप्रकम्प्यम्	वीक्षापन्ना, वीक्ष्यापन्न
१५।६८	प्रीतिदानेन	प्रीतिदानेन
१५।७०	ऊरीकृत्य	दूरीकृत्य
१५।७१	रामाय	रामस्य
१५।७१	तदात्मजौ	तदात्मजौ
१५।७१	संपरिग्रहम्	सं परिग्रहम्
१५।७४	आनाययामास	आहूययामास
१५।७५	सन्निपात्य	संनिमन्त्र्य
१५।८४	भर्तृप्राणिकीशराणाम्	भर्तुरिप्राक्कीशराणाम्
१५।८५	सीतात्यर्पणैषिणः	सीताप्युद्गीषिणः
१५।८७	सुधाजितस्य	सुधाजितस्य
१५।८७	धृतव्रजः	धृतव्रजः
१५।८८	आयुधम्	आयुधान्

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१५।८६	तक्षपुष्कलौ	तक्षपुष्करौ
१५।६२	मुनिवेषौ च	मुनिवेषेण
१५।६३	आचख्यौ	आरोढुम्
१५।६६	ककाराङ्कितधाम्	ककारङ्कितधाम्
१५।६६	शिष्यं तस्थौ	शिष्य: तस्थौ
१५।६७	सनिवेश्य	सन्निवेश्य
१५।६७	शरावत्याम्	शरावत्याम्,श्रावत्यां च, श्रावस्त्यां च
१५।१०२	पौराणाम्	पौरेषु

षोडश:पाठ:

१६।१३	ध्वनिमन्वगच्छत्	ध्वनिसामगच्छत्
१६।१३	दीर्घिकाणाम्	दीर्घिकासु
१६।१५	चरणान्सरागान्	चरणान्गुणरागान्
१६।१७	निर्मोकपट्टा:	निर्मोकपथ:
१६।२०	धूम्रधूसरा:	धूपधूसरा:
१६।२१	गृहाणि	वनानि
१६।२२	सरयूजलानि	सरयूकूटानि
१६।२३	प्राग्रहरौ	प्राग्रहर:
१६।२७	शशिनोपिदीन	शशिउद्गदीन
१६।२८	क्षीक्षौद्धुम्	फिरौद्धुम्
१६।२६	उपच्छमाना	उपगच्छमाना
१६।२६	सामन्तपादिनम्	सामन्तपदम्
१६।३१	मार्गैषिणी	मार्गैषिणी
१६।३१	विन्ध्येषु	विन्ध्येषु, विन्ध्यस्थे
१६।३४	नीलाकिताम्	सोल्लासिताम्

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य

<u>सप्तदश: सर्ग:</u>

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१७।४	आल्य:	अन्य:
१७।५	सावायकम्	सवायिकम्
१७।६	विधानं	वितानम्
१७।१०	उपवीतिनम्	उपवीतिनम्
१७।११	संतति:	संतती:
१७।१२	जातिवृद्ध: प्रयुक्तान्	जातिवृद्धप्रयुक्तान
१७।१३	शिवातय:	शिवीजमा:
१७।१५	प्रवृत्तय	प्रवृष्ट इवपर्जन्य: सारंगैरभिनन्दती
१७।१५	सारंगै	चातकै:
१७।१७	यावतीषाम्	यावदीषाम्, यावतीषाम्
१७।१८	उदीरयन्	उदीरयन
१७।१८	निवृद्धुरम्	निर्वृत्यै
१७।२३	मुक्तागुणोन्नसम्	मुक्तागुणानम्
१७।२५	दुकूलवान्	दुकूलवत्, दुकूलभृत
१७।२६	मैत्री	नदी
१७।२९	मङ्गलस्नायतनं	मण्डलायतनम्
१७।३१	स्मितपूर्वाभिभाषिणाम्	स्मितपूर्वाभिभाषणाम्
१७।३२	ऐरावतौजसा	यमिहौजसा
१७।३३	नियोगीक्ष्यम्	नियोगीक्षा, नियोगीक्षणम्
१७।३३	नि कृतम्	कृत:, कृतम्
१७।३४	शिला:	शिला
१७।३४	तैजसाम्	तैजस:
१७।३५	निरुद्ध:	निरुद्धम्
१७।३५	भूतम्	उद्धृतम्
१७।३७	जलाप्लुता	जलाप्लुता
१७।३९	दंशमन्त्रैवाम्	दंशयन्त्रैदाम्

श्लो०सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१७।४२	उद्धृत्य	उत्खाय
१७।४३	समस्तानि	समेतानि
१७।४३	उत्थिाश्वि	उत्थिवु:
१७।४६	प्रसादाभिमुखी	प्रसादसमुखी प्रसादाभिमुखी
१७।४८	प्रमृत्य	नमत्य
१७।४६	विभागेषु	विभागेन
११।५१	यथाकालं स्वन्नापि	यथाकाल स्वन्नापि
१७।५२	दुर्गाणि	दुर्गमाणि
१७।५४	प्रवृत्ते	प्रवृत्ति
१७।५४	[illegible]ारम्भा:	ाहितापि
७।५६	[illegible]यानल:	वैयानल:
१७।५६	यथार्हैभि:	मातिविशिष्ट: यतीनविशिष्ट: यर्हि विशिष्ट:
१७।६०	कौशिन	कौशात्
१७।६०	अभिगम्यती	अभिगम्यती , अनुगम्यती
१७।६१	रन्ध्रे तुंच	रन्ध्रे च
१७।६२	साम्परायिक:	सांपरायण:

सप्तदश: सर्ग:

१७।६२	पित्रार्यवर्धिती	पितुर्यवर्धित:
१७।६२	स्वदेशान्म्यशिष्यत	नायशिष्यत
१७।६४	भ्रार्या:स्वैरम्	स्वैरस्वार्या:
१७।६४	स्वकीयेषु	तदीयेषु
१७।६५	वर्णैरिव	वर्णैरिव
१७।६७	अकुणानाम्	कुणानां च
१७।६८	रात्रीतिम्	वर्णनीतिम्
१७।६६	वीरगामिना	वीरगामिनी
१७।७०	गन्धभिन्नानि	गन्धभग्नानि

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१७।७२	सन्त:	जना:
१७।७२	अत्यर्थं भक्त:	अत्यर्थमक्त:
१७।७२	अर्थिन:	अर्थिषु अर्थिनाम्
१७।७३	वपुषे	वपुषि
१७।७३	तत्कारि[illegible]	तथार्य[illegible]
१७।७४	दर्शनेन[illegible]:	दर्शनं नि[illegible]म्
१७।७४	स्वर्तुम्यांचि	सपात्नयांचि
		सर्वेभ्यांचि
१७।७५	कालय:	गभस्तय:
१७।७६	अश्वमेधाय	अश्वमेधाय्म्
१७।७६	यद्यपि	यदापि
१७।७६	धर्म्यम्	धर्माय
१७।७७	राज्ञीराजा	राजा राज्ञाम्
१७।७८	लोकपालानां तपुषु:	मारुतु: साधर्म्ययोगत:
१७।७९	देवा:	शैवाम्

कुमारसम्भव में पाठान्तर

प्रथम:सर्ग:

१।१	गंगाद्य	विगाद्य
१।५	छायामध:	छायामिर्थ
१।६	पिबन्ति(चामन्ति)	पिबन्ति
१।८	तामृकायित्वम्	स्यामुकायित्वम्
१।९	कण्डु:	कण्डू
१।९	प्रसृत गन्ध:	समीर:

श्लोक.सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१।६	गन्धः	गन्धिः
१।१२	सतीव	सतीव
१।२१	आश्रितः	आचरितः
१।२३	सङ्गत	सूर्यं
१।२४	धात्रीं (अनियन्त्री)	धात्रीं
१।२४	विदूरभूमिः	वैदूर्यभूमिः
१।२६	सपक्षः	सपक्षे
१।२७	सविशेषसङ्गता	सविशेषसंज्ञा
१।३०	महौषधिम्	महौषधीः
१।३३	अभ्युन्नता	अभ्युन्नता
१।३४	सन्नताङ्गी	संनतांशा
•१।३४	विभ्रमेषु	विभ्रमेषु
१।३४	स्निग्ध मुग्धः	लब्धः
१।३८	तन्वी	नीला
१।३८	नवरोमराजिः	नवरोमराजी
१।३९	नव्यौवनेन	नव्यौवनस्य
१।४०	चारु	चारु
१।४०	प्रफुल्लम्	विफुल्लम्
१।४४	ताम्रोष्ठ	ताम्रोष्ठ
१।४५	अप्यन्यपुष्टा	अन्यपुष्टाः
१।४५	शब्दाभीतुम्	शब्दाःश्रोतुम्
१।४७	लीलाम्	लीलाम्
१।५०	एकवधूं	एकवधूः
१।५३	स्वयमुत्सर्ग	मुक्तासर्ग
१।५३	तपःप्रवृत्येव	तपः प्रभृति
१।५४	यतात्मा	जितात्मा

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
३।११	संकल्पितार्थे	संकल्पितो र्थे
३।१४	एतदेव	सर्वमत्र
३।१५	अणिमायौगिकात्मा	अनिमायौगिकात्मा
३।१८	प्रत्ययमुत्तमम्	प्रत्ययलाघ०गलब्धौ
३।२५	कुबेरगुप्ताम्	कुबेरजुष्टाम्
३।२८	निर्गन्धतया	निर्गन्धमिति
३।३०	प्रकाश्य	निवेश्य
३।३१	प्रियालद्रुमम्	प्रियालद्रुमम्
३।३३	आपाण्डुरीभूत	आपाण्डुरीभूत
३।३७	रसात्पंकज	रसः पंकज
३।३८	कुंकुम्भौ	कुंकुम्भ
३।४६	कर्णावतंसा	कर्णावतंस
३।४६	कृष्णात्वचम्	मृगत्वचम्
३।४७	लक्ष्मीभूत	लक्ष्मीभूत
३।५०	धर्मविदः	वेदविदः
३।५३	सिन्धुवारम्	सिन्धुवारम्
३।५४	पर्याप्तपुष्प	सुजातपुष्प
३।५५	दामकांचीम्	पुष्पकांचीम्
३।५५	मौर्वी	द्वितीयामिव द्वितीयमौर्वीमिव
३।५७	पुनराशशंसे	पुनराशशंस
३।६७	परिलुप्त	परिलुप्त
३।७४	परिरक्षितुमिच्छन्नन्तर्धौ	परिरक्षितुकामः सौ न्तर्धौ
३।७६	तथापि	अथवा
३।७६	दीर्घीकृताङ्गः	दीर्घीकृतात्मा

खण्ड .

चतुर्थः सर्गः

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
४।२	विलुम्पदर्शनम्	निमग्नदर्शनम्
४।४	धुरारत्नानी	धुराकृतिः
४।१६	पुनरप्यादिश	परपुष्टा
४।१८	परिकर्मणि	प्रतिकर्मणि
४।२२	निवपणधन्वनः	निवहण, निवसत
४।२३	विलोकितमुत्त	विलोकितानि च
४।२५	दिग्धकरैः	दिग्धकरैः
४।३१	संश्रयपुरी	संश्रिता पुरी
४।३७	यम्	यत्
४।३८	अन्वकम्प्यत	अन्वकम्पत
४।४०	हरलोचनार्चिषि	हरलोचनार्चिषाम्
४।४२	नियोजयिष्यति	स योजयिष्यति
४।४३	स्मरशापावधिदाम्	स्मरशापान्तप्रदाम्
४।४४	युज्यते	पूर्यते
४।४६	परिपाल्याम्बभूव	प्रतिपाल्याम्बभूव

पंचमः सर्गः

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
५।१	प्रियेषु	प्रिये हि
५।३	गिरिशप्रतिसक्तमानसाम्	गिरिशप्रतिसक्तमासाम्
५।४	गृहेषु	गृहेपि
५।५	धृतिच्छायाम्	धृतिच्छायाम्
५।१२	निर्माप	निर्मापम्
५।१३	पुष्टम्	पुष्टम्
५।१८	पूर्णत्पः समाधिना	सर्वसमाधिसाधनम्
५।२२	वृषवृतिव्यतिरिक्तसाधनः	वृषवृतिः व्यतिरिक्तसाधनम्
५।२६	शारयन्तमिमीरिचरानिलाः	क्षपयन्तिमीरितानिलाः

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
६।३८	गुप्तावपि	स्वर्गादपि
६।४०	अनुगर्जित:	मन्द्रगर्जित:
६।४२	भूमिषु	पंक्तिषु
६।४८	निश्चलै:	निश्चला:
६।५२	सत्कारै:	सत्कारान्
६।५२	दर्शक:	दैशक:
६।५६	पिपिबन्ती	पितबन्ती
६।५२	तै:	तान्
६।५३	कुलाचलपरिग्रह:	नीचाचलपरिग्रह:
६।५४	कुलाचल प्रयाति	प्रयास्यती
६।५६	अपिव्याप्त	अभिव्याप्त
६।६१	उपपती	उपविश्यती
६।६१	मन्थी	[illegible]
६।६४	गुणान्	पटी
६।६६	लोकान्	लोकम्
६।७०	प्रभैणा	प्रभावेन
६।७३	सताभाराधनम्	अर्केंदाराधनम्
६।७४	तथैव	तथैव
६।७५	स्त्रियती	धावती
६।७५	कल्पितानि	कल्पिता:
६।७८	संक्रामिती:	संक्रामिती:
६।७९	षड्भर्तु	षड्भभी
६।८०	जाता:	जातान्
६।८५	कन्यार्थेषु	कन्यार्थे हि
६।८८	पित्र्यात्मनी	शर्वाणी
६।८८	भिक्षापि	भिक्षात्मम्
६।९३	वेल:	वेणु:
६।९४	प्राप्य	प्रेष्य

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
२।३०	वृणाते	वृणुते
२।३५	अदूषितायतीम्	अदूषितायतिम्
२।४२	तापनी	तापिनी
२।४६	कृतावधेः	सतावधेः
२।४८	अभिमानशालिनाम्	अभिमानशालिनः
२।५१	प्रभुमन्त्रः	नृपमन्त्रः
२।५४	कलाकुलम्	कलाविलम्
२।५५	गिरीशितैः	समीरितैः
२।५६	आपदम्	रनराम्
२।५६	विभाशितीक्ष्णः	विकाशितीक्ष्णः

तृतीयःसर्गः

३।७	परिस्तौति	परिस्तौति
३।२०	परिस्फुरत्	परिभ्रमत्
३।३६	महु०गभीरः	महु०गभीरम्
३।४३	कृतावमर्षः	कृताभिमर्षः
३।४४	स्मर्तुम्	वक्तुम्
३।४६	यशःक्षय	यशःक्षयात्
३।४६	अवेक्षमाणाः	अवेक्ष्यमाणाः
३।४६	समानदुःखा	सामान्यदुःखाः
३।५०	प्रभावात्	समन्तात्
३।५१	सर्वजनः	सर्वजनः
३।५२	उपपत्तेः	उपपत्त्या
३।५४	स्तनोपपीडम्	भुजोपपीडम्
३।५६	संहतिः	संततिः

षष्ठः सर्गः

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
६।६	तरंगरङ्गिण	तरंगभङ्गिण:
६।१०	विधुतवितताम्	विधूयवितताम्
६।१४	धुतम्	द्रुतम्
६।१७	पुष्पभरै	पुष्पफल
६।२४	शुचिभि:	गुरुभि:
६।२५	अनुकूल	अनुलोम
६।२८	विशन्ति	निघ्नन्ति
६।३६	नियमविस्मृताम्	मनसि स्थिताम्
६।४०	अविपत्तम्	अविक्लवम्
६।४२	समभिहृता	समुपकृत्य
६।४४	विषयाभिरतिम्	विषयातिशयम्
६।४३	सुलावजित:	सुलविजित:

सप्तमः सर्गः

७।३	मदजनिताम	मदविक्रताम्
७।२१	सामग्री	सामग्र्यम्
७।२५	धूम्नम्	धूपम्
७।३४	अतितृष्णतापि	अतिरोषात्
७।३६	मञ्जिष्ठम्	कौसुम्भम्, कौशेयम
७।३८	पुष्पगन्धी	पुष्पगन्धम्

अष्टमः सर्गः

८।१	सनातनम्	सदातनम्
८।११	अलीकम्	कान्ताञ्चलम्
८।११	विकारिभि:	विकासिभि:
८।२०	भूरुहाम्	भूरुह:

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१०।२१	अभिगच्छता	अनुगच्छता
१०।२२	विपणै	विपक्षै
१०।२६	जयति	विदधाति
१०।३२	क्रान्तीम्	चक्रन्तीम्
१०।३४	पल्लवाधरौष्ठे	पल्लवाधरौष्ठी
१०।४०	तासाम्	तासु
१०।४८	चिरमपि कलितानि	अतिकलितानि
१०।४८	मर्मांसि	वर्मांसि
१०।५३	कुसुमितमवलम्ब्य	सुकुसुमम्
१०।५४	संचिता	संयता
१०।५८	अनुनेतुम्	अभिनेतुम्
१०।६०	पवनस्खलातिभारात्	स्तनातिभारात्
१०।६१	वीक्षितं च	वीक्षितं वा

एकादशः सर्गः

११।२	पुरः	वरिः
११।६	पटलच्छन्नविग्रहः	मण्डलच्छन्नविग्रहः
११।७	अनूकृताकृतिः	अनुकृताकृतिम्
११।७	सच्छीकः	सच्छीकम्
११।१४	यत्स्वर्णं	यदि
११।३०	न्यायाधाराः	न्यायाधीनाः
११।३३	नीचवृत्तिः	नीचैर्वृत्तिः
११।५२	सर्वंकषैः	निरंकुशैः
११।५६	दुर्विभावम्	दुर्विभाव्यम्
११।५८	तुल्यवृत्तिताम्	तुल्यरूपताम्
११।६०	कृतम्	गतम्
११।६८	अपकर्त्री	अपकर्त्री
११।७३	पुमान्	मतः

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	अन्य
११।७४	ममैव	मामैव
११।७४	जलांजलि:	जलांजलिम्

द्वादश: सर्ग:

१२।३	अविभाव्य	अविचिन्त्य
१२।५	पैतृके	पैतृके
१२।१३	विराजसे	विराजसि
१२।१४	पुरो:	पुर:
१२।१६	भूरुहवनानि	भूधरवनानि
१२।१८	निधारयितुम्	निधारयितुम्, निरीक्षितुम्
१२।२२	अभिवीक्षितम्	अभिवीक्षितम्
१२।२४	पयसा	पयस:
१२।२६	यन्नतपसामदुष्करम्	यन्नाप्तं तेन दुष्करम्
		तेनाप्तं यन्नदुष्करम्
		यन्नसुकरं तपसैव
१२।३६	भुजगी:	तुलयी:
१२।४०	आवलीगुणेन	आवलिगुणेन
१२।४७	गणाचलस्य	शिवाचलस्य
१२।४७	विषक्तमूर्तु	विषक्तमूर्ते

त्रयोदश: सर्ग:

१३।२	आपदि	आपदि
१३।३	विकीर्णं	विकीर्णं
१३।६	तथाभूतम्	तथाविधम्
१३।११	उपरक्तेन:	उद्धृतेन
१३।१८	आयतभोगवासुकि	आततभोगवासुकि
१३।२४	नभस्थै:	वनस्थै:
१३।२५	नत:	पुरम्

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	अन्य
१३।३०	दीर्घकर्म तम:	दीर्घकर्तम:प्रतीक्षाम्
१३।३३	व्याहृतमुखी	अधीमुखम्
१३।४२	आपातिनुम्	आचरणाम्
१३।५४	अपथे	अपदे
१३।५१	मैदिनीपति:	वाजिनीपति:
१३।५१	विरोध्य	विराध्य
१३।५३	उन्नता	उद्धता
१३।५३	महीपतिम्	चमूपतिम्
१३।५४	प्राप्स्यती	प्राप्स्ती
१३।६३	मुनिनाप्लात्मया	मुनिना स्वयाप्लात्
१३।६३	प्रमाप्लाम्	प्रमाण्यंताम्
•१३।६६	उपरमन्ति	विरमन्ति

चतुर्दश: सर्ग:

१४।१	साधव:	सूरय:
१४।२	ललीम्	करीषम्
१४।२	क्षमम्	इदम्
१४।७	अभियुक्तम्	प्रयुक्तम्
१४।६	विमार्गणाम्	विमर्शनम्
१४।१०	अनुगे	आयुधे
१४।११	अदीर्घेण	अदीर्घं पि
१४।१२	रौषणात्	रौषणी:
१४।१२	अधिकढय्य	विकढय्य
१४।१५	ब्रुवीति	तथैति
१४।१८	अनल्पवीतसाम्	अनन्यवीतसाम्
१४।१६	ईक्षितम्	ईक्षतम्
१४।२०	विविच्य	विपृत्य

श्लो०सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१६।३२	अभ्यादिशती	अत्यादिशती
१६।३६	तृष्णी	धन्नी
१६।३६	भुजङ्गपाशान्	भुजङ्गपाशम्
१६।३५	प्रबन्धनाय	निबन्धनाय
१६।४०	अंशुजालम्	अंशुजालः
१६।४०	लौकनैभ्यः	लौकनरभ्यः
१६।४३	कुसुमोत्तंसितानि	दाडिमोत्तंसितानि
१६।५१	धीरम्	धीमम्
१६।५७	व्यापनेन	कथनेन

सप्तदशः सर्गः

श्लो०सं०	मल्लिनाथ	अन्य
१७।२	स्वभावम्	प्रभावम्
१७।४	संप्रियताम्	सुप्रियताम्
१७।६	यथार्थेषु	अयार्थेषु
१७।७	स	शनैः
१७।८	निर्वापयिष्यन्	निर्वापयिष्यन्
१७।१५	कुशलस्यवेग:	दातलस्यवेगः
१७।१६	विजवाति	प्रजवाति
१७।१७	प्रतिबिम्बस्यैव	गन्धर्विम्बस्य
१७।१८	मौलीन्दु	लालेन्दु
१७।२३	विकारः	रूपीमा
१७।२४	लताभुजाभ्याम्	रत्नीभुजाभ्याम्
१७।२५	पर्याय	वैपम्य
१७।३२	मैनाक इव	मैनाभम् इव
१७।३८	सावेगम्	सावेरम्
१७।३८	उत्सुकैस्य	उन्मुखस्य
१७।४४	कैमलेखम्	कैमलेखम्

<u>शिशुपाल वध में पाठालोचन :-</u>

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	वल्लभ तथा अन्य
१।	गणै:	गुणै:
१।१४	अध्यधिकया	अधाधिकया
१।१५	पर्वताविव	पर्वताकृती
१।२५	शिखावलिव्याज	शिखावलीव्याज
१।३४	दैत्यौकसम्	दैत्यौकसम्
१।३५	अनन्यगुर्वा:	अनन्यगुर्व्या:
१।३५	भवच्छेदकै:	भवौच्छेदकर:
१।३६	यत्र	यतव,यस्तव-"दिनकर"
१।३६	वरै	वरैरिह
१।४५	शीर्षककसानि	शीर्षकगुणानि
१।४५	यमाशङ्क्य	समाशङ्क्य
१।४६	श्रिय:	श्रियाम्
१।५१	वशी-बलवान रावण:	वशी
१।५४	चन्दनादिकीर्णं अभिघातात् - चन्दनाविकीर्णं	
१।५४	सुरद्विष:	सुरद्विषाम्
१।	विधित्सया	चिकीर्षया
१।६२	तिरस्कृतस्तस्य	चास्य
१।६५	निर्ववौ	निर्ववार
१।६६	प्रसून वर्षिणाम्	प्रसूनवर्षं ववत:
१।६७	विनाशक्तुम्यमपि	विनाशस्यैव
१।६८	आवदवसंतापित	आविद्ध
१।७१	अनुरागाकृष्टौ:(प्रतापनिकृष्टौ:) - अनुरागापकृष्टौ:	
१।७२	मुनिरुक्ता	मुनिनिरुक्ता (वल्लभ)
१।७२	पुमांसमभीति	पुमांसमन्वेति
१।७३	निपातनीया	निपादनीया

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	वल्लभ तथा अन्य
५।१८	कण्ठावसक्तमृदु:	कण्ठावसक्तानु:
५।१९	संधर्षिणा	संदर्षिणा
५।२२	पुष्पप्रवालम्	पुष्पप्रवालम् ।।
५।२४	पूणापिणा	पूणापिणाम्
५।२४	विपणि:	विपणिम्
५।२५	उपातम्	उपन्तम्
५।२६	नाभिरन्ध्रै:	नाभीरन्ध्रै:
५।३०	मल्लुक	मण्डुक
५।३४	रथकाचित्	रथकिता
५।३७	पदे:	पदे:
५।३८	अन्तरिपि	अन्तरिच
५।४७	तालम्	पालम्
५।४६	पीवनाभि:	तर्कनाभि, पीवनाभि:
५।५५	निश्रेण	प्रश्रेणा
५।५८	दमनपुर	दमनपुर
५।६१	पामार्थलक्षलिल (पायपाशा:)	पामाञ्छन:
५।६३	समवस्कारिरे	उपवस्कारिरे
५।६४	सुरभीरम्	सुरभीमम्
५।६६	पिकुमदीपन	पिकुमन्द
५।६७	भीमावली	भीमावलिम्
५।६७	कर्तुंरितान्तरिप	कर्तुंरितान्तरिप

षष्ठ:सर्ग:

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	वल्लभ तथा अन्य
६।३	तनुतरंगवति	तनुतरंगवती:
६।६	मधुकरैरपवाक्यरिव	मधुकरैरवबाधम्
६।१०	कुसुमावचिनी चया	(कुसुमावचिनी चया)
६।१३	मदन्तम्	वदन्तम्

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	वल्लभ तथा अन्य
६।१३	उदरश्रिया	वलिभ्यालिभ्यादिवराभ्वजे
६।१४	वलित्रया	वलित्रया
६।२२	हव्यवहाश्रियम्	हव्यभुगश्रियम्
६।२४	करेणावरोहभिः	करेणुकरोहभिः
६।३४	स्फुरितभ्रूरुणसुगन्धविषेवनम्	स्फुटितम्
६।४०	मन्मथमन्थरभाषिणाः	मन्मथमन्मनम्
६।४१	पिशाम्	निशाम्
६।४३	नैपुणमपि प्रवन्न	नैपुणमकुरुवत्
६।४७	केशरवारुभिः	केशरम्
६।४९	विगलय	विगलम्
६।५५	मुराम्	मुरौ:
६।५८	या धरपल्लव	वाधरम्
६।६४	सौधरजस्यः	रौध्ररजस्यः

सप्तमः सर्गः

श्लोकसं०	मल्लिनाथ	वल्लभ तथा अन्य
७।५	सकुलारमार्पितरत्नम्	सकुलारमापितरत्नम्
७।६	सदूणनाजनस्य	सदूणनागणस्य
७।१२	परिपाद्य	प्रतिपाद्य
७।१४	कुलाटकदपालम्	कमलापदपालम्
७।१६	द्रुषितकुलके वामुनि	द्रुषितकुलके वीमुनि
७।१७	कांचिन्मितम्मणडनैन	कांचिमितम्मम्
	सकठिन	सुकठिन
७।२०	ककवीपरौव	ककवीवरौव
७।२७	ककापि	स्वाम्भवदनागणस्य
७।३५	कामुकामुकारिणाःप्रतिपक्षवंशमिताकुलकाकुलाकूणी प्राणिप्रतिपद	
७।३६	दीपिताशाः (सन्दीपितशान्मिवैस्वराचैव)	दापिताशाः(दशनिर्णयाः)

श्लोक सं०	मल्लिनाथ	वल्लभ तथा अन्य
२०।६८	तपनीयनिकषराजि	तपनीयशिलाकषराजिषु
२०।६८	छटाद्वयाम्	छटाच्छटाम्
२०।७०	प्रकटारोपितवारि	कटारोपितवारि

अध्याय—६

मल्लिनाथ के टीकागत बहुमुखी पाण्डित्य की समीक्षा

मल्लिनाथ की टीकाओं के अध्ययन के पश्चात् हमें उनकी असाधारण प्रतिभा एवं वैज्ञानिक सूक्ष्म विवेचन पद्धति का ज्ञान होता है। वे जहाँ अपनी टीकाओं में "अन्वयमुखेन" श्लोकों की व्याख्या करते हैं वहीं पर श्लोकों के अन्तर्गत आये हुए ध्वनि, रस, अलंकार, छन्द, ज्योतिष, संगीत, दर्शन एवं व्याकरण के प्रसङ्गों की भी विस्तृत व्याख्या करते हैं।

भारतीय संस्कृत-काव्य-वाङ्मय में मल्लिनाथ एक ऐसे युगप्रवर्तक टीकाकार हुए जिन्होंने एक ओर तो दीर्घकाल से चली आती हुई टीका-साहित्य की क्षीणोन्मुख अवरुद्ध धारा का पुनरुद्धार किया तथा दूसरी ओर आगामी टीकाकारों के लिए सुगममार्ग भी प्रशस्त किया।

लघुत्रयी, बृहत्त्रयी, भट्टिकाव्य, एकावली तथा नैषध की टीकाओं के प्रारम्भिक सर्गों में दिये गये मल्लिनाथ के श्लोकों के आधार पर हम उन्हें महाकवि की उपाधि से विभूषित कर सकते हैं। उनके बहुमुखी पाण्डित्य की परिचायक उनकी "महोपाध्याय" एवं "सूरि" की उपाधियाँ भी हैं। मल्लिनाथ ने वैशेषिक वेदान्त, न्याय, सांख्य, एवं मीमांसाशास्त्र का गहन अध्ययन किया था, जैसा कि उनके निम्नलिखित कथन से ही स्पष्ट होता है :-

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकीम् ,
अन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत्
वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुराम्
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥

सरस्वतीदेवी के दाँतों को तर्क (न्यायशास्त्र) माना गया है । जिस प्रकार बिना दाँतों के भाषण करने में "त" और "द" अक्षरों का उच्चारण असम्भव है उसी प्रकार तर्क के बिना शास्त्रार्थ में अनिर्वचनीय शक्ति का अभाव ही रहता है । तर्कशास्त्र के द्वारा ही प्रतिवादी के मतों का खण्डन किया जा सकता है और दाँतों के द्वारा ताम्बूल पूगीफल का खण्डन किया जाता है ।[1] मल्लिनाथ ने "तर्क" एवं दांत इन दोनों पक्षों से सम्बन्धित अर्थों का स्पष्टीकरण करके अपनी मौलिक शास्त्रीय प्रतिभा का परिचय दिया है ।

नैषध १०।८४ में व्यास तथा पराशर के द्वारा रचित पुराण, उपपुराण, कथा एवं आख्यायिका शब्दों का कवि ने वर्णन किया । चीमासु टीकाकार ने इन सभी शब्दों की व्याख्या की है ।

मल्लिनाथ का परिचय सोमसिद्धान्त (कापालिक दर्शन), शून्यतावाद (माध्यमिक दर्शन) विज्ञानवादमत्त्व (निराकार विज्ञान मात्रवादी बाह्या-लापी योगाचार) एवं साकारज्ञानवादी सौत्रान्तिक दर्शन से भी था क्योंकि नैषध १०।८८ की टीका में उन्होंने इन पर प्रकाश डाला है ।

प्रस्तुत अध्याय में मल्लिनाथ के बहुमुखी पाण्डित्य को हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं :-

(१) काव्यशास्त्र -अलंकार, ध्वनि, रसादि

(२) व्याकरणशास्त्र से परिचय

(३) दर्शनशास्त्र से परिचय

(४) संगीतशास्त्र

मल्लिनाथ अलंकारशास्त्री के रूप में :-

"अलंकार" शब्द संस्कृत काव्य-जगत् में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान पर विराजमान है । इसमें अत्युक्ति न होगी कि यह कसौटी ही समस्त भारतीय काव्य-

---

१. नैषध १।८४

शास्त्र का इतिहास अपने में समेटे हुए है । संस्कृत वाङ्मय के इतिहास की ओर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अलङ्कारों का विवेचन एवं उनकी लोकप्रियता काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठापित रस, वक्रोक्ति एवं ध्वनि से कथमपि कम नहीं थी । ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि की स्थापना के पूर्व अलंकारों की चर्चा की है ।

यहाँ पर संक्षेप में अलंकार की परिभाषा पर विचार करना असंगत न होगा । अलंकार शब्द का शाब्दिक अर्थ है "अलंकरोति इति अलंकार:" अर्थात् शब्द और अर्थ के उपस्कारक धर्म को अलंकार कहते हैं अथवा अलंक्रियते अनेन इति अलंकार: जिसका अर्थ है -- "शब्द और अर्थ के उन धर्मों को अलंकार कहते हैं जो उन्हें (शब्द और अर्थ को) सुशोभित या उत्कृष्ट बनाये ।"

साहित्यदर्पणकार ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार से की है --

"शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तो लंकारास्ते ङ्गदादिवत् ।।

तात्पर्य यह कि जैसे हारादि आभूषण मनुष्य के शरीर की शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार अलंकार भी अस्थिर होते हैं, काव्य में शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं तथा रसभावादि का उपकार करते हैं ।

आचार्य आनन्दवर्धन, लोचनकार एवं आचार्य मम्मट ने भी अलंकारों को हार बाह्य-आभरण रूप अङ्ग पर अवलम्बित सिद्ध किया है ।[1]

---

१. ध्वन्यालोक -- अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा: मन्तव्याः कटकादिवत्
लोचन -- अलंकार्यव्यतिरिक्तत्वादलंकारो मनुष्यतव्यः लोके तथा सिद्धत्वात् यथा कुण्डलादिरलंकारो गुणाः । गुणालंकारव्यवहारश्च गुणिन्यलंकार्ये सति च व्यवहारक एवोचितः ।" (ध्वन्यालोकलोचन २।६)
काव्यप्रकाश -- उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।

मल्लिनाथ एक महान् अलंकारविद् थे क्योंकि उन्होंने कालिदास, भारवि, माघ, भट्टि और श्रीहर्ष के काव्यों पर टीका लिखते समय अलंकारों का स्पष्ट रूपेण निर्देश किया है जबकि इनके ही समकालीन भरतमल्लिक, चित्रभानु एवं नारायण ने कहीं पर भी अलंकारों की चर्चा नहीं की है। इनके अलंकार मर्मज्ञ होने का प्रमाण तो इस बात से भी उपलब्ध होता है कि उन्होंने अलंकारशास्त्र पर लिखी गई विद्याधर की एकावली पर भी टीका लिखी है। इन समस्त टीकाओं के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उनका अध्ययन अलंकारशास्त्र पर पर्याप्त था। उन्होंने अलंकारों की परिभाषा (लक्षण) आचार्य मम्मट के काव्य प्रकाश दण्डी के काव्यादर्श एवं अलंकारसर्वस्व से प्रायेण उद्धृत किया है।

उदा० शिशुपालवध १।२ नारदमुनि के तेज से सूर्य और अग्नि उपमान का नीचापन दिखाये जाने के कारण व्यतिरेकालंकार है। यहाँ पर व्यतिरेका-लंकार की परिभाषा मल्लिनाथ ने मम्मट के काव्यप्रकाश से उद्धृत किया है —
"उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः"

इसीप्रकार शिशु० ३।४० में विरोधाभासालंकार का लक्षण मम्मट के काव्यप्रकाश से उद्धृत किया गया है यथा —

"विरोधः सो पि विरोधो पि विरुद्धत्वेन कथः"

अलंकारसर्वस्व से भी मल्लिनाथ ने लक्षण उद्धृत किये हैं, यथा —
"आकाश का गंगाप्रवाहत्व से सम्बन्ध न होने पर भी सम्भावना में सम्बन्ध होने पर भी अतिशयोक्ति अलंकार है। अलंकार सर्वस्वकार ने "पुष्पंप्रवालोपहितं यदि स्यात्" उदाहरण दे करके इस अलंकार को स्पष्ट किया है।

किरात० १।१८ में अलंकारसर्वस्वकार कृत समासोक्ति की परिभाषा को मल्लि० ने उद्धृत किया है।

किरात० २।१४ में कारणमाला अलंकार का लक्षण अलंकारसूत्र से वे उद्धृत करते हैं।

कुमार० १।३ में अर्थान्तरन्यासालंकार मल्लिनाथ ने लिखा है और उसका लक्षण आचार्य दण्डी के काव्यादर्श से दिया है —" ज्ञेयःसो र्थान्तरन्यासो वस्तुप्रस्तुत्य किंचन। तत्साधनसमर्थस्य न्यासो न्यस्य वस्तुनः" -

इसी काव्य के छठे श्लोक में श्लेषानुप्राणित प्रेयालंकार की परिभाषा दण्डी के काव्यादर्श से ही उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं -- "प्रेयः प्रियतराख्यानम्"

जहाँ पर अलंकार बिल्कुल स्पष्ट रहता है वहाँ पर केवल उसका उल्लेख करके ही मल्लिनाथ छोड़ देते हैं जैसे --किरात० २।३०, ३।२१, ३।४४, शिशुपालवध २।१०३, शिशु०वध ३।२८ , ५।१६, कुमारसंभव ६।६, कुमारसंभव ७।३ इत्यादि ।

मल्लिनाथ ने अलंकारों के प्रसंग में एकावलीकार विद्याधर को भी प्रामाणिक आचार्य के रूप में उद्धृत किया है । उदाहरणार्थ किरातार्जुनीयम् के ४।३८ में अर्जुन ने सुन्दर विस्तृत घनों की पंक्तियों से नीलवर्ण के उपत्यकाभूमि से घिरे हुए बर्फ के चट्टानों से ढके हुए शुभ्र हिमालय पर पहुँच कर हलायुध के राग से युक्त,नीलाम्बरधारी, शिरोमणि बलभद्र जी की शोभा का स्मरण किया ।[1]

मल्लिनाथ के ही शब्दों में --" अत्र तदुपदर्शनेन तत्सदृशान्तरस्य स्मरणात्स्मरणालंकारः" "सदृशं सदृशानुभवादन्यस्मरणे तत्स्मरणम्" इति विद्याधरः ।

यद्यपि मल्लिनाथ ने एकावली पर टीका लिखी है लेकिन वे अलंकार-निर्धारण में सर्वदा स्वतंत्र हैं । इसका प्रमाण इस बात से पुष्ट हो जायेगा कि एकावलीकार ने नैषधमहाकाव्य की साहित्यविद्याधरी नाम की टीका लिखी है और मल्लिनाथ की जीवातु टीका भी नैषध पर लिखी गयी है । अनेक स्थलों पर मल्लिनाथ और विद्याधर का मतभेद अलंकारों के प्रसंग में देखा जा सकता है , उदाहरणार्थ -- नैषध १।१६ में विद्याधर अपह्नुति मानते हैं लेकिन मल्लि० रूपक अलंकार मानते हैं --

---

१. सतनुनराधिपत्याभिनीलपयोकान्तं ममनुपरिक्षिप्तानी नीरमाधाय विष्णुः
व्यवस्थित मन्दराभत्यानुबन्धार सकलीमविलम्बवासी विधृतः क्षीरपाणीः
(किरा० ४।३८)

"द्विफालबद्धान्कैशान्न बिभर्ति, किन्तु शिरस्थितमयशोयुगमिति वस्त्व-पह्नुतिरलंकारः" इति साहित्य विद्याधरी ।

"कैशेषु कार्ष्ण्यसाम्येनायशोरूपणाद्रूपकमलंकारः" इति मल्लि० ।

इसी प्रकार नैषध० १।२२,२३ में भी मल्लिनाथ और विद्याधर के अनुसार भिन्न भिन्न अलंकार हैं। विद्याधर अलंकारों का लक्षण काव्यप्रकाश से उद्धृत करते हैं लेकिन मल्लिनाथ किसी एक आचार्य पर ही आश्रित नहीं रहते। नैषध २३ में मल्लिनाथ उपमा और उत्प्रेक्षा लंकार माने गये हैं। लेकिन साहित्य विद्याधरी में उपमा और उत्प्रेक्षालंकार माने गये हैं।[2]

नैषध १।२३ में साहित्य विद्याधरी में प्रतीप तथा मल्लिनाथ ने काव्यलिंग अलंकार माना है। प्रतीपालंकार के पक्ष में विद्याधर काव्यप्रकाश से लक्षण उद्धृत करते हैं यथा — आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता। तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कार-निबन्धनम्" मल्लिनाथ भी उपमालंकार का खण्डन करते हैं और काव्यलिंग अलंकार के औचित्य को सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि — "उपमानासतीत्यर्थः।" अस्तमस्मीति शब्दोऽप्य प्रयुज्यमानो ऽप्यस्ति" इति वचनात्। अत्र चन्द्रारविन्दविजयस्य विशेषणगत्या मत्कृते प्रतिमानत्वहेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः" इति मल्लि० ।

नैषध १।५१[3] में ज्ञात होता है कि साहित्य विद्याधरी के टीकाकार विद्याधर ने व्याजोक्ति अलंकार मानते हुए उसका लक्षण काव्यप्रकाश से दिया है।

---

१. विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरः स्थितम् । नैषध१।१६

२. "उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः" इति मल्लिनाथः । "उत्प्रेक्षा चोपमा चालंकारः इति साहित्यविद्याधरी ।

३. कृशानिकायाभिभवाप्तमाद्यं स्थानिकन्दुकीय निःश्वासतासिं वियोगिनाम्
विदीपनत्याभिदधन्मुगानतां विभावयन्स्यापतलाप पाण्डुताम् ।।
नैषध० १।५१)

मल्लिनाथ ने दिया है लेकिन उनका लक्षण एक ग्रन्थ से न देकर भिन्न भिन्न ग्रन्थों से उद्धृत किया है ।

जिन स्थलों पर दो समान अलंकारों के निर्धारण में पाठक को संदेह हो सकता है उसका निराकरण मल्लिनाथ बड़े ही स्पष्ट रूप से कर देते हैं । उदाहरणार्थ -- शिशुपालवध ३।३२ में उत्प्रेक्षा और उपमा दोनों अलंकारों में से कौन है ? उसका निर्धारण सकारण करते हुए वे लिखते हैं -- अत्र समुद्रान्तर्लीनमायां महवानलज्वालायां कदाचित्संभाव्यमानस्य मध्योल्लसनस्य पुरि वर्णनादिवा-भ्यायेनास्या ज्वालात्वमुत्प्रेक्ष्यते । इव शब्दो यमुत्प्रेक्षायां एव व्यंजको नोप-मायाः, ईदृग्ज्वालाया अप्रसिद्धत्वेनोपमान त्वायोगात् । "मन्ये शङ्के ध्रुवं नूनं प्राय इत्येवमादिभिः । उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ।।" (काव्यादर्श २।२३४)

इसी प्रकार शिशुपालवध ३।५३ में[2] तुल्ययोगिता और श्लेष के निर्णय हेतु सकारण प्रामाणिक आचार्य कृत लक्षण को भी उद्धृत किया गया है । यहाँ पर तुल्ययोगिता के मण्डन एवं श्लेष के खण्डन की विधि दर्शनीय है । जैसे --" अत्रवधूनां वलभीनां च प्रकृतानामेव धर्मसाधर्म्यौपम्यावगमात् केवल प्रकृतगोचरा तुल्ययोगिता एव न श्लेषः, तत्र विशेष्यस्यापि श्लिष्ट त्वनियमात् । यथाहु : --"प्रस्तुतानां तथान्येषां केवलं तुल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ।"

उपर्युक्त के १६ वें श्लोक में अलंकार सर्वस्वकार को उद्धृत करते हुए मल्लिनाथ बड़ी ही कुशलता के साथ स्वभावोक्ति का खण्डन करके उदात्तालंकार की संपुष्टि करते हैं यथा --" वस्तुवार्तं भविष्यत् समृद्धं वस्तु वर्णनं" इति न वैषा

---

१. यस्यामजस्रं महतः पिशङ्गीर्यां कुर्वती काञ्चनवप्रभासा ।
सुरद्विपास्फालनवजसिन्धुर्ज्वालाविभिन्नेव महासमुद्रम् ।। शिशु० ३।३२

२. रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः ।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः ।। शिशु० ३।५३

स्वभावोक्तिः भाविकं वा तत्र तथाऽस्थितवस्तुवर्णनात्। अत्र तु कविप्रतिभोत्थापित संभावनानिरूपणाविषयवस्तुवर्णनादारोपितविषयत्वमिति ताभ्यामस्य भेदः"

इसी प्रकार कुमारसंभव १।२ में हिमालय के वर्णन प्रसंग में वे कारण सहित तुल्ययोगिता अलंकार की सिद्धि करते हैं तथा रूपक और परिणामालंकार की भी तर्कयुक्त निरत्यापना करते हैं। उन्हीं के ही शब्दों में :–

"अत्र हिमवद्वर्णनस्य प्रकृतत्वात्तद्गताधिरत्नानां धातूनामपि प्रकृतत्वात् तेषां दोहनक्रियारूपसमानधर्मसम्बन्धादौपम्यस्य गम्यत्वात् केवलप्राकरणिकविषयस्तुल्ययोगिता नामालङ्कारः। तदुक्तं –प्रस्तुतानां तथान्येषां केवलं तुल्यधर्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता।" न चात्र रूपकपरिणामाद्यलङ्कारशङ्का कार्या तेषामारोपमूलत्वात्। किन्त्वाक्षेपादिवत् वत्सवदौग्धृत्वादीनामभावप्रसिद्धेनानारोप्यमाणत्वादिति भावः॥"

मल्लिनाथ की टीकाओं के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि अलंकारों का लक्षण उन्होंने अलंकार सर्वस्व से प्रायः लिया है किन्तु जहाँ कहीं भी उन्हें अलंकारों की प्रामाणिकता में सन्देह होता है वे स्वतः अपनी ही चिन्तापूर्ण शैली में अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए अलंकारसर्वस्वकार द्वारा प्रतिपादित अलंकार का खण्डन करते हैं। उदाहरणार्थ –कुमारसंभव १।४४ में अलंकारसर्वस्वकार "सा च सम्भावना" परिभाषा लिखकर उत्प्रेक्षालंकार मानते हैं। यहाँ पर मल्लिनाथ ने पुष्प और मूँगे का मुक्तामणि तथा मूँगे से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्धोक्त्या अतिशयोक्ति अलंकार को स्वीकार किया है लेकिन साथ ही साथ वे प्रतीपालंकार भी मानते हैं क्योंकि विशेषतः पुष्प और मुक्ताफल उपमानों का प्रकृत (उपमेय) के उत्कर्ष के लिए ही उपस्थिता कल्पित है। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में

---

१. पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥
(कुमारसंभव १।४४)

प्रतीपालङ्कार की परिभाषा भी उद्धृत किया है। प्रतीपालङ्कार अतिशयोक्ति से अनुप्राणित है।[1]

मल्लिनाथ के अलंकारमर्मज्ञ होने का प्रमाण यह भी है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती अलंकारशास्त्री साहित्यदर्पणकार और विद्याधर के द्वारा उदाहृत अलङ्कार श्लोकों में भी अपनी ही विवेक से निश्चय किया है। वे अपने पूर्ववर्ती अलङ्कार के आचार्यों के अन्धानुकरणकर्ता नहीं थे। उदाहरणार्थ नैषध में ३।११६ साहित्यदर्पणकार प्रतिवस्तूपमा अलंकार मानते हैं। विद्याधर के अनुसार प्रस्तुत श्लोक में प्रतीपालङ्कार है किन्तु मल्लिनाथ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से यहाँ पर भिन्न दृष्टान्तालङ्कार माना है। साहित्यविद्याधरीकार लिखते हैं — "अत्रप्रतीपमलंकारः। यदुक्तम् —"आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता। तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम्"।

मल्लिनाथ दृष्टान्तालंकार का निर्देश करते हुए कहते हैं — "दृष्टान्तालंकारः। एतेन नलस्य समुद्रगाम्भीर्यं दमयन्त्याः चन्द्रिकाया इव सौन्दर्यं च व्यज्यते।"

मल्लिनाथ ने भोजराज को भी अलंकार-निर्देशन में उद्धृत किया है।[2] कुमारसंभव २।५० में दीपक और तुल्ययोगिता का बड़ी सुन्दर ढंग से भेद बताते हुए पहले वाले का मण्डन एवं द्वितीय का खण्डन उन्होंने किया है। इसी सम्बन्ध में उन्होंने दीपकालङ्कार की परिभाषा भोजराज के प्रसिद्ध अलंकारग्रन्थ से उद्धृत किया है। यथा :— "अत्र दीपकालंकारः प्राकरणिकयोरुभयोरप्राकरणिक वाप्युक्तधर्मान्वयस्य गम्यत्वात्। यथाह भोजराजः — प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां चौपम्यस्य गम्यत्वे दीपकम् इति। न चेयं तुल्ययोगिता तस्याः केवल प्रस्तुतविषय-

---

1. अत्र मुखकमलयोरुत्कर्षापकर्षयोरभेदेऽपि सम्बन्धोक्त्यातिशयोक्तिः। 'सा च सम्भावना' इत्यलंकारसर्वस्वकारः। विशेषतस्तु मुखकमलयोरुपमानयोः प्रकृतोत्कर्षविनिर्देशादस्मात् प्रतीपालङ्कारः तदुक्तम्—"उपमानस्यापि उपमेयता-कल्पनं वा प्रतीपः" इति लक्षणात्। स च पूर्वोक्तातिशयोक्त्यानुप्राणित इति।

2. उमे इव अग्नि वीतुमभीष्टोकाक्षाम्।
   सा वा शम्भोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम॥ कुमारसंभव, २।५०

हुआ है) और पृ० १४५ पर (रातिस्वकान्त का पाठ स्तम्भ : प्रकृतरोमांची के स्थान पर स्तम्भप्रकृतरोमांचा : पाया हुआ है) ।

२. के०पी० पाठक के द्वारा सम्पादित मेघदूत पर संजीवनी टीका में मल्लिनाथ ने निम्नलिखित अलंकारों की परिभाषा प्रतापरुद्र यशोभूषणम् से दिया है जैसे :- मेघदूत पृष्ठ ६ पर विषम, पृष्ठ ६ पर अर्थान्तरन्यास, पृष्ठ १० पर भाविक एवं पृष्ठ ५७ और ५८ पर अनुकूलनायक और स्वाधीनपतिका) के लक्षण प्रतापरुद्र से मल्लिनाथ ने उद्धृत किया है ।

३. किरातार्जुनीयम् (बनारस द्वारा प्रकाशित) पृष्ठ ६ पर (काव्यलिंग), पृ० १० और ११ पर (अतिशयोक्ति), पृ० ७४ पर (विशेषोक्ति), पृ० ८१ (विभावना) पृष्ठ ८६ (पर्यायोक्ति केवल प्रस्तुतत्वेनसम्बन्धम् के स्थान पर प्रस्तुतत्वेन सम्बन्ध पाठ मिलता है ।), पृ० ६४ और २१० पर (स्वभावोक्ति) , पृ० ८६ पर (निदर्शना), पृ० ८३ और २०५ पर (तद्गुण), पृ० ११२ पर (अर्थापत्ति), पृ० १२७ पर (विषम), पृ० १२८ पर (सामान्य) पृ० १२६ पर मीलन), पृ० १४६ पर (तुल्ययोगिता), पृ० ३७० पर (पर्याय) ।

भट्टिकाव्य (चौखम्भा संस्कृत सिरीज द्वारा प्रकाशित) :- भाविक , निदर्शना, विरोध, यथासंख्य, प्राप्तिमान, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, अपह्नुति, उत्प्रेक्षावयवा, तुल्ययोगिता, दीपक, व्यतिरेक, दृष्टान्त, एकावली, आक्षेप, श्लेष, वक्रोक्ति, सम, स्वभावोक्ति तथा काव्यलिङ्ग अलंकारों के लक्षण मल्लिनाथ ने प्रतापरुद्रयशोभूषणम् से उद्धृत किया है ।

शिशुपालवध की सर्वंकषा टीका में प्रतापरुद्र से उद्धृत अलंकारों का विवरण :- पृ० २५ और ६१ में (विषम), पृ० ५२, ८१ और ३४१ पर अप्रस्तुत प्रशंसा) , पृष्ठ ५७ पर (पर्यायोक्त किन्तु प्रस्तुतत्वेन सम्बन्धं तद् पर्यायोक्त मुख्यते के स्थान पर सम्बन्धात् पर्यायोक्तः स उच्यते पाया है), पृ० ७२ पर (दीपक), पृ० ७८ (उत्प्रेक्षा), पृ० ६२, २७२, ३२२ और ३८६ एवं ४३६ पर (सामान्य),

निर्धारण करते हैं ।[1]

भट्टिकाव्य में अलङ्कारों का बाहुल्येन प्रयोग कवि के द्वारा किया गया है । इसमें कुछ ऐसे अलंकारों का उल्लेख भट्टि ने किया है जो कि अन्यत्र अप्राप्य हैं । मल्लिनाथ और जयमंगलाकार की "भट्टि-काव्यम्" पर लिखी गयी टीकाओं से प्रतीत होता है कि अनेक स्थलों पर मल्लिनाथ का भट्टि तथा उनके टीकाकार जयमंगलाकार से मतभेद है जिसे निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा समझाया जा सकता है :—

भट्टिकाव्य (१०-३८,३९) में भामह के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए जयमंगलाकार ने आक्षेप के दो भेद माने हैं । (१) उक्तविषयक आक्षेप (२) शेषार्थप्रतिषेधाक्षेप जयमंगलाकार के अनुसार १०।३८ में उक्त विषयक तथा १०।३९ में शेषार्थप्रतिषेधाक्षेप । किन्तु मल्लिनाथ के अनुसार इनमें अर्थान्तर-न्यास एवं काव्यलिङ्ग का सङ्कर है ।

भट्टिकाव्य १०।६१ में "जयमंगला" टीका के अनुसार उपमारूपकालंकार है लेकिन मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा एवं रूपक का सङ्कर ही माना है ।

इसी प्रकार १०।४९ में जयमङ्गलाकार भामह , दण्डी, एवं भोजराज को प्रमाण मान कर "रूपकोपमा" अलङ्कार की सत्ता मानते हैं जिसको मल्लिनाथ अलग से अलङ्कार न मानकर काव्यलिङ्गालंकार के साथ उत्प्रेक्षा का सङ्कर ही मानते हैं ।

"सौवर्ण्य किंचिदिव मत्स्यया न कुर्वन्
यं याति निर्भिन्नसमभ्युदितसुवर्णम् ।
तवाध्यात्मा त्वत्सुकृतानि नक्तमुक्ती
स्पर्धीयसी पश्यति मांतथापि यत्नम् ॥ १०।७२

---

१. नैवं तुल्ययोगिता प्रकृताप्रकृतविषये तदनुपपत्तेः । नापि समासोक्तिः, तस्या विशेषणसाम्यमूलत्वात् । नापि श्लेषः, उभयत्रैव विशेष्यश्लेषयोगात् ।

उपर्युक्त श्लोक में भट्टि ने निपुणालंकार माना है और जयमंगलाकार ने वर्णों के सादृश्य के आधार पर उदात्तालंकार की सत्ता स्वीकार की है ।

लेकिन सर्वपथीना के लेखक मल्लिनाथ ने आचार्य दण्डी को उद्धृत करते यहाँ पर "प्रेयस्" अलङ्कार माना है ।

इसीप्रकार भट्टिकाव्य १०।५८ पर जयमङ्गला टीका में रसवत अलंकार लिया गया है क्योंकि यहाँ पर आकाश एवं पर्वत को पुरुष एवं स्त्री के रूप में प्रयुक्त किया गया है । अपनी इस बात को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए जयमंगलाकार ने भामह को भी प्रमाणरूप में उद्धृत किया है (भामह काव्यालंकार १११।५)

भट्टिकाव्य १०।५७ में जयमंगला के अनुसार प्रेयस अलंकार है क्योंकि यहाँ पर प्रियतमवस्तु का वर्णन किया गया है लेकिन मल्लिनाथ ने यहाँ पर प्रतीपालंकार को स्वीकार किया है ।

मल्लिनाथ अलंकारों के औचित्य-निर्धारण में स्वतः निर्णय देते हैं न कि अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा का अन्धानुकरण करते हैं । इस बात को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है —

भट्टिकाव्य १०।४६ में भट्टि ने "वार्ता" नामक अलङ्कार माना है क्योंकि यहाँ पर महेन्द्रपर्वत की प्रकृति का वर्णन हो रहा है । जयमङ्गलाकार ने इसे दो भागों में बाँटा है —(१) विशिष्ट (२) निर्विशिष्ट । विशिष्ट को उन्होंने "स्वभावोक्ति" की संज्ञा दी है । अपने कथन की सम्पुष्टि में उन्होंने भामह को उद्धृत किया है । भामह ने तो "वार्ता" को दो भागों में नहीं बाँटा है । मल्लिनाथ ने इस "वार्तालंकार" को स्वभावोक्ति की ही संज्ञा दी है ।

इसीप्रकार १०।७३ में हेतु को हेत्वालंकार भी कहा गया है किन्तु भामह ने इसे एक अलंकार के रूप में नहीं स्वीकार किया है । मल्लिनाथ भी इसे एक अलंकार न मानकर दृष्टान्तालंकार माना है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मल्लिनाथ को अलंकारशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान था और इसीलिए वे किसी भी अलङ्कार का निर्धारण स्वतः करते हैं ।

(ख) मल्लिनाथ ध्वनिशास्त्रज्ञ के रूप में :-

भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि की प्रतिष्ठा का अप्रतिम स्थान है। ध्वनि को काव्य का आत्मा कहा गया है।[1] कालिदास, भारवि, माघ, भट्टि तथा श्रीहर्ष के महाकाव्यों से ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन, लोचनकार अभिनवगुप्त तथा मम्मटादि ध्वनि समर्थक आचार्यों ने ध्वनि के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

महामहोपाध्याय कोलाचल मल्लिनाथ की सूक्ष्म विवेचिका दृष्टि से उपर्युक्त काव्यों की टीका करते समय ध्वनि अपेक्षित न रह सकी। जहाँ एक ओर उन्होंने वाग्विदग्धपूर्ण उक्तिकामिनी के बाह्यस्वरूप को भामह, दण्डी, रुय्यक आदि आचार्यों को उद्धृत करके सहृदय पाठकों का उपकार किया वहीं दूसरी ओर मल्लिनाथ ने ध्वनिकार आनन्दवर्धन एवं मम्मट के ग्रन्थों का सम्यक अध्ययन करके काव्यगत विविध व्यंग्यमान अर्थों के मर्म को भी पहचाना। ध्वनि के विवेचन से ही प्रमाणित हो जाता है कि हमारे प्रौढ टीकाकार ने काव्य में अन्तर्हित एक अनिर्वचनीय तत्त्व, जो कि काव्य की आत्मा आनन्दवर्धनाचार्य के द्वारा उद्घोषित किया गया है, के अन्तस्तल में प्रवेश करके कवियों के अभिप्राय को समझने एवं उसके अन्तर्भूत रहस्य से आत्मसाक्षात्कार करने के लिए हमें सर्वाङ्गीणता प्रदान की है।

यहाँ पर संक्षेप में ध्वनि के परिचय करना प्रसङ्गानुकूल होगा और तदनन्तर मल्लिनाथ कृत समस्त टीकाओं में निर्दिष्ट ध्वनि की सम्यक् मीमांसा करके उन्हें ध्वनिशास्त्रज्ञ के रूप में समझा जा सकता है।

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नातपूर्वः
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ॥ इत्यादि

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबल समर्थक आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में ध्वनि का लक्षण इस प्रकार किया है —

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।। ध्व०१।१३

अर्थात् जहाँ पर वाच्य अर्थ अपने को अथवा वाचक शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान् लोग ध्वनि कहते हैं ।

यहाँ पर वाच्यार्थ का गौण बनने का तात्पर्य व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य से है अर्थात् जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता रहती है वही ध्वनि की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है ।

अभिनवगुप्त ने ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर पाँच अर्थ निकाले हैं —(१) व्यंजक शब्द (२) व्यंजक अर्थ, (३) व्यंजना व्यापार (४) व्यंग्य अर्थ (५) ध्वनि काव्य । यहाँ पर इनका विस्तृत विश्लेषण न करके मल्लि-नाथ की टीकाओं में उपलब्ध ध्वनि के स्वरूप तथा भेदोपभेद का मूल्यांकन एवं ध्वनि की विशेषताओं से ज्ञान प्राप्त करना समीचीन है ।

मल्लिनाथ ने एकावली में अनेक स्थलों पर आये हुए ध्वनि के प्रसंगों पर टीका लिखी तथा अपनी ध्वनि सम्बन्धी मौलिक विधा का परिचय दिया है । विद्याधर ने एकावली में कारिका एवं उन कारिकाओं पर वृत्ति लिखा है । एकावली के प्रथम उन्मेष में "ध्वनिप्रधानं काव्यं तु कान्तासम्मितमीरितम्" आया है । इस पर मल्लिनाथ ने इस प्रकार टीका लिखी है —"शब्दार्थाविव वाच्यवाचकौ तदुपसर्जनी च तयोर्गुणत्वमुपसर्जनत्व शब्दध्वनिकाव्य भावोपसर्जनात् व्यंजक-प्रधानं ध्वनिप्रधानम् । तदयमर्थः यथा कान्ता कटाक्षवीक्षणमन्दहासमधुरभाषणादि-भिः पुरुषं रंजयन्ती व्यंजकव्यापारेणैव वशं कारयति । एवं काव्यकतापि शब्दार्थाभ्यां सम्भूया व्यंजकवृत्त्या सहृदयहृदयाह्लादिन्या वस्तुनीति रामादिवत् वर्तितव्यम् अपि न रावणादिवदिति वाक्यान्तरो दर्शनाभावाय पुंसः कर्तव्ये प्रवर्तयति निवर्तयति चाकर्तव्यादिति कान्तासम्मितमिदं शास्त्रम् ।"

इसीप्रकार द्वितीय उन्मेष में एकावलीकार ने व्यंजक शब्द की परिभाषा कारिका एवं वृत्तियों में निरूपित की है । मल्लिनाथ ने विद्याधर की कारिका एवं वृत्ति दोनों की बहुत ही सुन्दर ढंग से व्याख्या लिखकर अपनी व्याख्यात्मक शैली का परिचय विद्वानों को दिया है । उन्होंने ध्वनि के स्थलों की व्याख्या आचार्य मम्मट को प्रामाणिक मानकर ही प्रायः किया है । उदाहरणार्थ —

"शब्दशक्तिमूलध्वनौ शब्दस्यैव प्राधान्यमर्थस्य सहकारित्वमात्रमित्यर्थः ।
अर्थस्य व्यंजकत्वे :—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्
यो ऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥"

आचार्यमम्मट ने काव्यप्रकाश के तृतीय उल्लास में आर्थी व्यंजना को उद्भावित करने वाले कारणों को उपरिलिखित कारिका में बताया है । यहाँ पर टीकाकार मल्लिनाथ आर्थी व्यंजना के अभिव्यंजनार्थ साहाय्यप्रदान करने वाले इन कारणों की व्याख्या करते हैं :—

" वक्ता —वक्तृविशेषः । बोधव्यो बोधयितव्यः प्रतिपाद्य इत्यर्थः । काकुः स्वर विकारः । वाक्यं वाक्य विशेष : । वाच्यं वाच्यार्थविशेषः । अन्यसं-निधिरन्यसन्निधानम् । प्रस्तावः प्रकरणम् । देशो विविक्तादिः तथा कालश्च वासन्तादिरभिप्रायविशेषः । एतैः उक्तादिभिः . वैशिष्ट्यात् वक्त्रादपर्थ-स्यापि व्यंजकत्वमस्तीत्यर्थः । किंच शब्दशक्तिमूलध्वनौ अर्थस्येवार्थशक्ति-मूले च शब्दस्य सहकारित्वमित्यपि द्रष्टव्यम् यथा —

" उपाधभावां परिजातम् "
सख्यां सखी वैभवती अभावे
वार्ये प्रवासे भवतः इत्यवेतात् ।
मधुरतुरा कुटिलं पर्वं ॥

मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में ध्वनि और अलंकार के भेद को बहुत ही सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है। ध्वनि का निर्देश वे कहीं-कहीं पर सभेद एवं उदाहरण भी करते हैं। इसे निम्नलिखित उदाहरण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है —

"अत्र [illegible] मधुपाना [illegible] —
[illegible] उत्प्रेक्षा । सा च भ्रमनिति व्यंजकाप्रयोगात् वाच्याऽसती मधुपत्वाधारो-
[illegible] सम्बन्धी [illegible] । [illegible] —
[illegible] मधुपादि [illegible]
ध्वनिरेव, न श्लेषः"[1]

मल्लिनाथ की टीकाओं में अनेक स्थलों पर अलंकार से अलंकारध्वनि, अलंकार से वस्तुध्वनि, वस्तु से अलंकार ध्वनि एवं वस्तु से वस्तु ध्वनि का भी निर्देश किया गया है। नैषध १।१२८, ७।४ तथा शिशुपालवध ६।२९, एवं ६।७० में अलंकार से अलंकारध्वनि की ओर संकेत किया गया है, उदाहरणार्थ :—
"अत्र [illegible]
[illegible] । तेन च [illegible] —
[illegible] उत्प्रेक्षा व्यज्यते इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः ।"

इसीप्रकार "नैषधीयचरित" के सप्तम सर्ग के चतुर्थ श्लोक में समासोक्ति अलंकार से उत्प्रेक्षालंकार व्यंजित होता है।[2] अतः यहाँ पर अलंकार से अलंकार

---

१. शिशुपालवध ७।४२ पर मल्लिनाथ की व्याख्या
२. "अत्र [illegible] —
प्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः । तेन [illegible] उत्प्रेक्षा व्यज्यते
इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः ।
(नैषध ७।४ पर जीवातु टीका)

ध्वनि की छटा दर्शनीय है ।

शिशुपाल वध की सर्वंकषा टीका में ६।२१ तथा ६।७० में क्रमशः [illegible] अलंकार से उपमा तथा उत्प्रेक्षा से रूपक की अभिव्यक्ति होने से [illegible] अलंकार से अलंकार ध्वनि का उल्लेख मल्लिनाथ ने किया है ।

इसी प्रकार भट्टिकाव्य के प्रथम सर्ग के पंचम तथा द्वितीय सर्ग के १८ वें श्लोक में भी मल्लिनाथ ने अपनी "सर्वपथीना" टीका के अन्तर्गत अलंकार से अलंकार ध्वनि का स्पष्ट निर्देश किया है ।

अलंकार से अलंकारध्वनि का उदाहरण देने के पश्चात् अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण देना समीचीन प्रतीत होता है ।

नैषध १७।५८ में अलंकार से वस्तुध्वनि का दृष्टान्त दर्शनीय है ।

"[illegible] निदर्शनालंकारः, स चोपमानाय [illegible] इति [illegible] विभावनालंकारोत्थापित इति संकरः, तेन [illegible] व्यज्यते इत्यलंकारेण वस्तुध्वनिः"

इसीप्रकार अठारहवें सर्ग के १०० वें श्लोक में भी अलंकार से वस्तुध्वनि का उल्लेख मल्लिनाथ ने किया है ।[1]

"किरातार्जुनीय" श्लोक ११।५६ में[2] वस्तु से अलंकार ध्वनि का निर्देश किया गया है ।

इसके अतिरिक्त रघुवंश के चतुर्थ सर्ग के ५४ वें श्लोक में वस्तु से वस्तु ध्वनि का भी उल्लेख मल्लिनाथ सूरि ने किया है ।[3]

---

१. "[illegible] रणार्थं" [illegible] वस्तुनोऽपि [illegible] अलंकारेण वस्तुध्वनिः" ।

२. [illegible] ।
[illegible] ।। किरात० ११।५६

३. भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ।। रघुवंश ४।५४

का वर्णन किया गया है क्योंकि वसन्तकाल में कदम्ब पुष्प भी विकसित होने से उपमान के साथ रोमांचित दमयन्ती के शरीर को कदम्ब पुष्प माना गया है। जीवातु टीकाकार ने इस श्लोक की टीका में सभी सात्त्विक भावों को भी परिगणित किया है —यथा —

" स्तम्भप्रलयरोमांचाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः परिकीर्तिताः"

कुमारसम्भव ६।८४ श्लोक में "अवहित्था" नामक संचारीभाव का उल्लेख करते हुए मल्लिनाथ ने उसका शास्त्रसम्मत लक्षण भी अपनी संजीवनी टीका में किया है। प्रस्तुत श्लोक में पार्वती जी का देवर्षि नारद की अपने पिता से विवाह सम्बन्ध में होती हुई बातों का उन्हीं के पास में रहकर सुनना तथा लज्जावश पार्वती जी के द्वारा ही लीलाकमलदल का परिगणनकार्य हो रहा है अर्थात् लज्जावश कमलदल के गिनने के बहाने उन्होंने (पार्वती जी ने) अपनी शिव-परिणयजात हर्ष को छिपा लिया। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पर (कुमारसंभव ६।८४ में) अवहित्थानामक संचारी भाव माना गया है। उनके द्वारा उद्धृत "अवहित्था" नामक संचारी भाव का लक्षण यों किया गया है —

" अवहित्था तु लज्जाद्यैर्हर्षाद्याकारगोपनम्"

इसी प्रकार नैषध ४।१२ में "चिन्ता" संचारी भाव की ओर मल्लिनाथ ने अपनी टीका में संकेत किया है।

"कुमारसंभवम्" के श्लोक ७।९५ में "लज्जा" अनुभाव की ओर भी मल्लिनाथ ने संकेत किया है।

(ख) मल्लिनाथ वैयाकरण के रूप में :—

व्याकरण का महत्त्व सर्वथा अपरिहार्य है। व्याकरण के ज्ञान बिना संस्कृत-वाङ्मय का ज्ञान असम्भव है। इसके सर्वाधिक महत्त्व होने के कारण ही

इसे "मुखं व्याकरणं स्मृतम्" कहा गया है । अर्थात् जिस प्रकार शरीर के सभी अवयवों में मुख का प्राधान्य होता है उसी प्रकार सभी विद्याओं में व्याकरण शास्त्र सर्वश्रेष्ठ है । संस्कृत-काव्य की अपनी टीकाओं में कोलाचल मल्लिनाथ "सूरि" ने कारक, सन्धि, समास, प्रत्यय, लिङ्ग, वचन, धातुरूप, शब्दरूप, आत्मने-पद, परस्मैपद, अव्यय एवं उपसर्ग आदि व्याकरण के विभिन्न अंगों का निर्देश किया है । उन्होंने अष्टाध्यायीकार महर्षि पाणिनि, भाष्यकार पतंजलि, वार्तिककार, वृत्तिकार, काशिकाकार एवं अन्य वैयाकरणों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है जिससे उनके व्याकरण ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है ।

किसी शब्द के यदि दो रूप बनते हैं तो मल्लिनाथ उन दोनों का भी उल्लेख करते हैं । पूर्वमेघ के २५ वें श्लोक में "विश्रामहेतोः" शब्द पर वे लिखते हैं - "विरमः विरामः । भावार्थे घञ् प्रत्ययः, तस्य हेतोः विश्रामार्थमित्यर्थः । "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इत्यत्र षष्ठी । विश्राममित्यत्र "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" इति पाणिनीये प्रतिषेधे ऽपि "विश्रामो वा" इति चान्द्रव्याकरणे विकल्पेन वृद्धिविधानादुपसिद्धिः"

नैषध १०।७८ में श्रीहर्ष ने सरस्वती के काञ्ची (कटिभूषण-करधनी) तथा व्याकरण के साम्य का बड़ा ही चमत्कारी वर्णन किया है । कवि प्रश्न करता है कि क्या निरन्तर ही गुण, दीर्घ तथा भाव से विस्तारको प्राप्त तथा शब्दपरम्परा को बनाने वाली सरस्वती की काञ्ची व्याकरण से बनायी गई है?[1]

इस श्लोक में "गुणदीर्घभावयुक्ता विततिं दधाना" तथा "शब्दपरम्पराणां विधायिका" ये पद काञ्ची और व्याकरण दोनों पक्षों में लागू होते हैं । मल्लिनाथ ने व्याकरण के गुण, दीर्घ, भाव, प्रत्यय कृत्प्रत्यय तथा सुप्तिङन्त शब्दों की भी व्याख्या की है जो उनके व्याकरण ज्ञान को द्योतित करती है ।

हम जानते हैं कि "देवेन्द्र, देवेशान" आदि पदों में "आद्गुणः"

---

१. अजस्रं सा गुणदीर्घभावभृतां दधाना विततिं यदीया ।
विधायिका शब्दपरम्पराणां किमारचि व्याकरणेन काञ्ची ।।

(पा० ६-१-८७) से गुण , "देत्यादि , तथा भीरु आदि पदों में "अकः सवर्णे दीर्घः" (पा०सू० ६-१-१०१) आदि सूत्रों से "दीर्घ" , "भूति" आदि पदों में "सः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" (पा०सू० ३।४।६९) आदि सूत्रों से भाव में प्रत्यय और "कर्तव्य, करणीय" आदि पदों में "तव्यत्तव्यानीयरः" (पा०सू० ३।१।९६) आदि सूत्रों से "कृत्" संज्ञक प्रत्यय व्याकरणानुसार होते हैं । यह व्याकरणशास्त्र, राम, कृष्ण, नन्दन इत्यादि शब्दों की रचना करता है । व्याकरण वेदों का मुख माना गया है अतः इसको "शब्दपरम्पराणां विधायकः" उचित ही कहा गया है ।

इस श्लोक की व्याख्या "जीवातु" टीका में इस प्रकार की गयी है —
"किंच गुणस्य अप्रधानस्य, दीर्घभावेन दैर्घ्येण, वृत्तिं विकारं विस्तारं , दधाना, अन्यत्र — गुणस्य दीर्घस्य भावप्रत्ययस्य कृत्प्रत्ययस्य तेषां विकारं दधानेति विभक्तिविपरिणामः, शब्दपरम्पराणां शिक्षित परम्पराणां विधायिका कर्त्री, अन्यत्र-"सुप्तिङन्तशब्दपरम्पराणां विधायकेन सार्धमिति विभक्तिविपरिणामः ।"

मल्लिनाथ ने नैषध १०।१३६ में "स्वामी" व्यक्ति और "वसुविधि" पर भी प्रकाश डाला है । साथ ही उन्होंने महेन्द्र व्याकरण की भी चर्चा की है । नैषध का श्लोक इस प्रकार है —

स्वं नैषधादेशनवी । विधाय कार्यव्यतिरेकिनामतः स्वम् ।
किं स्वामिवसुभावनम् दुष्टं तातृक्वसुव्याकरणः पुनः सः ? ।।

अर्थात् इन्द्र ने अपनी ही मति का वासित (दमयन्ती के परिवार वचन की अन्यथा रूप में कथारोगों से उत्कृष्ट अभिप्राय रखते हुए भी मानवोचित वर्ण बनाकर, पाठान्तर दमयन्ती के प्रतिनिधि की दूत बनाकर भेजा व्यर्थ होने पर कार्य (दमयन्ती की प्राप्ति) के लिए मतिभिन्न नहीं होता हुआ अर्थात् मत होता हुआ तथा वैसा (दमयन्ती विषयक अनुराग के अधीन होकर विपरीत) व्याख्यान करता हुआ स्वामी के समान दुष्टभाव (परस्त्री विषयक इच्छा)

अन्यत्र उत्तरमेघ के १४ वें श्लोक में "शीघ्रसम्पातहेतोः" शब्द आया है। इसका विग्रह इस प्रकार किया गया है — "शीघ्रं सम्पातः शीघ्र सम्पातः (अत्र "सह सुपा" (२-१-४) इत्यनेन सुप् सुपेति समासः)। शीघ्रसम्पातस्य हेतोः" इति प्रयोगस्थाने षष्ठ्यन्तः प्रयोगः कृतः कविना। शीघ्र सम्पात एव हेतुरिति शीघ्र-सम्पात हेतुस्तस्य। शीघ्रसम्पात हेतोः)। यहाँ पर मल्लिनाथ ने "षष्ठी-हेतुप्रयोगे" सूत्र के अनुसार षष्ठी विभक्ति माना है। लेकिन आधुनिक विद्वान् श्री शारदारंजन रे महोदय ने मल्लिनाथ से इस सम्बन्ध में असहमति व्यक्त की है। उन्होंने "विधायहेतोः" शब्द की टिप्पणी करते हुए विस्तार में मल्लिनाथ के "षष्ठीहेतुप्रयोगे" सूत्र के अनुसार षष्ठी होने के तर्क का खण्डन किया है। साथ ही साथ अपने तर्क के पक्ष में उन्होंने कारण प्रस्तुत किये हैं जैसे —

" Here the rule 'षष्ठी हेतु प्रयोगे' does not at all apply. For this rule does not regulate the षष्ठी in हेतुशब्द but that in the word of which the हेतुत्व is implied."

यदि हम रे महोदय के तर्क पर विचार करें तो ज्ञात हो जाता है कि उनका मत भ्रामक एवं असत्यपूर्ण है। "काशिका" वृत्ति में सूत्र को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है — " हेतोः प्रयोगे हेतुप्रयोगः। हेतु शब्दस्य प्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी विभक्तिर्भवति। अन्नस्य हेतोर्वसति।" यहाँ पर हेतु शब्द का प्रयोग और हेतु की द्योत्यता दोनों अभीष्ट हैं। भट्टोजिदीक्षित महोदय ने काशिका के अनुसार लिखा है — "हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात्। अन्नस्य हेतोर्वसति।" इस पर ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने दो मत उद्धृत किये हैं — एक के अनुसार "अन्न" शब्द में षष्ठी "हेतौ द्योत्ये" के कारण होती है और दूसरे के अनुसार अन्य शब्दों से षष्ठी विभक्ति का निषेध करने के लिए ही "हेतौ द्योत्ये" कहा गया है। इसी के अनुसार यहाँ पर "हेतु" शब्द में षष्ठी सही रूप से होती है। साधक है "सर्वनाम्नस्तृतीया च" की वृत्ति। उनका कथन है — " अत्र हेतौ — इत्यनुवर्तते तथा च हेतौ द्योत्ये इति। अन्नस्येति। हेतो — इति तृतीयायां प्राप्तायामनेन षष्ठी। हेतुप्रयोगे किमु ? अन्नेन वसति। हेतौ

भवेदेव किन्तु ? अन्तरान्तरेण षष्ठी यथास्यादित्येवं । अन्यत्र कौस्तुभे नाम उपपद सुबन्तव्याख्याना भूपितमन्ये । . . . पंचम्यां तु हेतुशब्दात् षष्ठी तृतीया न स्यातामित्याशयेनाह — सर्वनाम्नो हेतुरस्य चेति ।"

अतः स्पष्ट है कि पद्यान्त में षष्ठी इसी सूत्र से है न कि शारदा-रंजन राय के "षष्ठी शेषे" सूत्र से यहाँ तो हेत्वर्थ षष्ठी होने से कारक का विषय है । इस प्रकार यह "षष्ठी शेषे" का विषय न होकर "षष्ठी हेतुप्रयोगे" सूत्र का विषय है ।

उत्तरमेघ के "आधिक्षामां विरहशयने" श्लोक में "विरहशयने" शब्द पर पर समास के निर्धारण में वैमत्य है । यहाँ पर सभी टीकाओं के मतों का उल्लेख कर उचित समास का निर्धारण करना अनिवार्य है —

(१) विरहे शयनम् विरहशयनम् (मल्लिनाथ) सप्तमी तत्पुरुष

(२) विरहस्य शयनम् ,, (शारदारंजनराय) षष्ठी तत्पु०

(३) विरहानुकूलं शयनं तस्मिन् (गौरीश्वरकवि) शाकपार्थिवादिवत्

यहाँ पर मल्लिनाथ का विग्रह ही समीचीन है क्योंकि आधार के अर्थ में सप्तमी है । भट्टोजि दीक्षित महोदय ने औपश्लेषिक , वैषयिक और अभिव्यापक तीन तरह के आधार माने हैं और यदि दूरी तथा निकटता को द्योतित करने वाले अर्थ को भी लें तो प्रातिपदिकार्थमात्र को लेकर चार प्रकार की सप्तमी "अधिकरणे च" में उन्होंने मानी है ।

हेलाराज ने "वाक्यपदीय" की "उपश्लेषस्याभेदः तिलाकाशकटादिषु" इस कारिका के अनुसार "उपश्लेष" तत्त्व को अधिकरण के चारों भेदों में व्याप्तात्मकमात्र है । अब प्रश्न उठता है कि क्या यहाँ वैषयिक या गौण अभिव्यापक आधार माना जायेगा अथवा हेलाराज के अनुसार उपश्लेषमात्र होगा । अतः यहाँ "सप्तम्यधिकरणे च" से सप्तमी विभक्ति ही होगी । षष्ठी यहाँ किसी भी प्रकार के स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध और निर्धारणादि के अभाव के कारण नहीं हो सकती है ।

जहाँ तक उपपदलोपी समास का प्रश्न है, शाकपार्थिवादि समास का कोई भी लक्षण यहाँ नहीं मिलता है। शाकपार्थिवादि उत्तरपदलोप के अभाव में भी हो नहीं सकता है। उसका बीज है पहले समस्तपद के रूप में उसके पूर्वपद का लक्षक होना और यदि ऐसा नहीं होता तो समास ही नहीं बनेगा। यह बात "शाकपार्थिव" शब्द से ही समझी जा सकती है — इसमें शाक शब्द का लक्ष्यार्थ है — "शाकप्रियः" इसी कारण "प्रिय" शब्द की आवश्यकता ही नहीं होती है और साथ ही "शाकप्रियपार्थिव" जैसे समस्तपद की निष्पत्ति भी इसी प्रक्रिया से हो जाती है। लक्षणा का तो प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि मुख्यार्थबाध है ही नहीं। विरह को "चिरविरहम्" का लक्षक तभी माना जा सकता है जब "चिरविरहम्" यह विग्रह सम्भव न हो। अतः मल्लिनाथकृत सप्तमी तत्पुरुष ही उपयुक्त है।

मल्लिनाथ ने व्याकरण की बारीकियों का विवेचन प्रायः अपनी टीकाओं में किया है किन्तु कहीं-कहीं पर उन्होंने भूल भी की है जिसका संकेत भट्टोजिदीक्षित ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "सिद्धान्तकौमुदी" में किया है। उदाहरणार्थ शिशुपालवध १।५१ तथा भट्टिकाव्य २०।२९ और २०।३० में मल्लिनाथ ने "क्रियासमभिहारे लोट्" माना है। शिशुपालवध १।५१ श्लोक इस प्रकार है —

> पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः
> विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्निशं दिवः ॥

प्रस्तुत श्लोक में "अवस्कन्द", "लुनीहि", मुषाण और "हर" क्रियाओं का प्रयोग लोट्लकार मध्यमपुरुष एक वचन में हुआ है। इन चारों कार्यों का सम्बन्ध "अस्वास्थ्य को" किया से है। अब यहाँ पर मल्लिनाथ कृत व्याकरण के नियमों की समीक्षा करना चाहिए। उन्होंने अपनी "सर्वंकषा" टीका में उपरिलिखित श्लोक की व्याकरणात्मक व्याख्या यों की है —

सम्पादन हो रहा है जो एक दूसरे से भिन्न है। इन चारों क्रियाओं की समाहारूपकरण क्रिया के द्वारा एक साथ व्यक्त किया जा रहा है अर्थात् रावण ने स्वर्गलोक में इन कार्यों के द्वारा उपद्रव मचा दिया है। ऐसी स्थिति में यहाँ पर "क्रिया समभिहारे लोट्" सूत्र नहीं लागू होगा अपितु समुच्चये सामान्य वचनस्य" सूत्र से ही लोट् लकार होगा।

काशिका में क्रिया समभिहारे लोट्" सूत्र पर उस प्रकार व्याख्या की गई है —

" धातु सम्बन्ध इति वर्तते। पौनः पुन्यं भृशार्थो वा क्रिया समभिहारः प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत्। समभिहारविशिष्ट क्रियावचनात् धातोर्लोट्प्रत्ययो भवति सर्वेषु कालेषु सर्वलकाराणाम् अपवादः। तस्य च लोटो" हि स्व" इत्येतो आदेशौ भवतः तध्वमोस्तु (लोटः) वा भवतः। योगविभागश्च कर्तव्यः (लघुराणा) — क्रियासमभिहारे लोट् भवति। ततो लोटो हिस्वौ। लोडित्येव। लोडन्तयोरो "हिस्वौ" भवतः। तेन आत्मनेपदपरस्मैपदत्वं चैवानायासिध्यति। तिङ्न्त्यर्थं भवति। पठ पठेति स पठति। पठ पठेति यूयं पठथ। अथवा पठत पठेति यूयं पठथ। पठपठेति यूयम् अपठत। अथवा पठत पठेति यूयं अपठत। पठ पठेति यूयं पठिष्यथ अथवा। अथवा पठत पठेति यूयं पठिष्यथ।

आत्मनेपदे —अधीष्व अधीष्व इति स अधीते। यूयम् अधीध्वम् अधीध्वम् इति यूयम् अधीध्वे। एवं सर्वेष्वेव लकारेषूदाहार्यम्। क्रियासमभिहाराभिव्यक्तौ द्विवचनमर्थं तौ चैतौ "क्रिया समभिहारे द्वे वाच्ये" इति। यङ्प्रत्ययः पुनरयमन्यार्थो विधीयमानः स्वयमेव वाचकत्वात् न चैतदिति वचनम्।"

"समुच्चये सामान्यवचनस्य —सूत्र पर काशिका में इस प्रकार व्याख्या की गई है —"द्वितीय लोड्विधाने (न अन्यथा) समुच्चये सामान्यवचनस्य धातो रनुप्रयोगः कर्तव्यः (१) सक्तून् पिब धानाः खाद इति सः अभ्यवहरत्य।

(२) सक्तून् पिबतखादत अभ्यवहरत्य।

(३) अन्नं भुङ्क्ष्व, दाधिकमास्वादयस्व इति अभ्यवहरते (आत्मनेपदे)। तदेवमिह अनुप्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम्। साधयं च लौकिके शब्द प्रयो-

(प्राग्द्रष्टपूर्वं गच्छ, मार्गं चर, क्रियाभेदे सति सामान्यवचनता सम्भवत्येव"

भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में मल्लिनाथ की आलोचना की है — "एतेन पुरीमवस्कन्द इति व्याख्यातम् । अवस्कन्दनलवनादिक्रियाभूतानपतन-परीक्षा एककर्तृका अन्यास्त्वक्रिया उत्पद्यन्ते । यद्वा पुनः पुनः अवस्कन्द इत्यादिरर्थ इति तु व्याख्यानं भ्रममूलमेव । द्वितीयसूत्रे क्रियासमभिहार इत्यस्य अनुवृत्तेः लोडन्तस्य द्वित्वापत्तेश्च । पुरीमवस्कन्देत्यादि मध्यमपुरुषैकवचन-मित्यपि केचिदाहुः भ्रम एव । पुरुषवचनयोः उक्तत्वात् ॥

मल्लिनाथ ने क्रियाओं के रूप के निर्धारण में भी अपने समकालीन टीकाकारों से मतभेद प्रकट किया है । भट्टिकाव्य १६।२६ में "विनङ्क्ष्यति और" एधान्ति शब्दों में जयमङ्गलाकार ने "क्षिप्रवचने लृट् सूत्र से भविष्यत् काल माना है जिसका तात्पर्य है कि "क्षिप्र अथवा उसका पर्यायवाची शब्द उपपद होगा तथा "आशंसा" या आकांक्षा" इसके साथ होगा तब भविष्यत् काल की क्रिया होगी । लेकिन इस सूत्र में तो" आशंसायाम्" पिछले सूत्र "आशंसायाम् भूतवच्च" (पा०सू० ३।३।१३२) से ही पूरक का कार्य कर रहा है । अतः मल्लिनाथ जयमंगलाकार तथा अन्य टीकाकारों के मतों का खंडन उचित ही करते हैं । वे यहां पर "लृट् शेषे च" सूत्र से भविष्यत्काल मानते हैं । भविष्यत्काल का बोध कराने के लिए ही यह लृट् लकार क्रिया में जोड़ दिया जाता है चाहे भविष्यत्काल की स्थिति को बनाये रखने के लिए दूसरी धातु हो अथवा न हो ।

मल्लिनाथ क्रिया पद की निष्पत्ति पर भी प्रकाश डालते हुए पूर्व-वर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हैं साथ ही वे महाभाष्यकार एवं कैयट के मतों का भी उद्धरण देकर अन्त में अपने मत की स्थापना करते हैं । उदा-हरणार्थ किरातार्जुनीय ६।१०, नैषध ५।७१ एवं भट्टिकाव्य १४।५२ में क्रमशः "दर्शयते", "दर्शयितासहे" और "दर्शयाञ्चक्रे" शब्द आये हैं । इन तीनों शब्दों की रचना दृश् धातु में णिच् लगाकर हुई है । यहां णिच्" हेतुमति च" सूत्र से हुई

कोलाचल मल्लिनाथ ने प्रत्यय का भी उल्लेख अपनी टीकाओं में अनेक स्थलों पर किया है। उन्होंने अनेक स्थानों का उद्धरण देते हुए सभी सम्भव मतों को भी उद्धृत किया है। किरातार्जुनीय १।१ में "पिचिल:" शब्द आया है। "पिचिल:" में इल प्रत्यय है। मल्लिनाथ ने इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से प्रकाश डाला है :—

पैच्छं पिच्छिलं (पिच्छ इत नपुंसके भावे)। पिच्छिलमस्यास्तीति (पिच्छिल + मतुबर्थीय) पिच्छिल:। यहाँ पर अच् प्रत्यय "अर्श आदिभ्यो च् " सूत्र से है जिसका तात्पर्य यह है कि अर्श आदि गण में आने वाले शब्दों से आगे अच प्रत्यय होता है। "पिच्छिल" शब्द आकृतिगण में नहीं है फिर भी आकृतिगण में आने वाले शब्दों के समान होने से इसे भी आकृति गण में आने वाले शब्दों के समान मान करके अच् प्रत्यय लगाया गया है। अथवा भाष्यकार के "पीता गाव:" "विभक्ता भ्रातर:" "भुक्तान्ना:" ऐसा प्रयोग होना चाहिए था किन्तु "पीतोदका:" का उत्तरपद, उसके बिना अर्थात् "उदका:" के अभाव में भी अर्थ सर्वथा स्पष्ट हो जाने के कारण लुप्त हो जाता है ठीक उसी प्रकार "पिच्छिलकुपान्ता:" में से केवल "पिच्छिल:" रहने पर भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है। मल्लिनाथ ने यहाँ पर उत्तर पद के लोप होने के लिए "कैयट" को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है वे हैं —गम्यमानार्थस्याप्रयोगस्य लोपो विवक्षित:। "विभक्ता भ्रातर:" इत्यत्र च धनस्य यद्विभक्तत्वं तद् भ्रातृष्पचर्यते। "पीतोदका गाव:" इत्यत्राप्युदकस्य पीतत्वं गोष्वारोप्यते। "भुक्ता: ब्राह्मणा:" इत्यत्र अन्नस्य भुक्तत्वं ब्राह्मणेषु उपचर्यते।"

उन्होंने एक तीसरा मत भी उद्धृत किया है। उसके अनुसार "पिच्छिल:" में अतिरिक्त है क्योंकि पिदु धातु सकर्मक होती हुई भी कर्म के ज्ञात न किये जाने के कारण अकर्मक कही जा सकती है। सकर्मक क्रिया के अकर्मक होने के लिए उन्होंने इस नियम का उल्लेख किया है —

"धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षात: कर्मणो कर्मिका क्रिया।।"

अर्थात् का सकर्मकक्रिया मानार्थों में प्रयुक्त हुई हो ।

(२) उसका कर्म क्रियापद के अर्थ में ही सन्निहित हो

(३) उसका कर्म प्रसिद्ध हो

(४) उसका कर्म बताने की इच्छा न हो ।

यहाँ पर विद् धातु में द्वितीय और चतुर्थ नियम के अनुसार अकर्मक क्रिया हो जाने के कारण वर्जित है ।

"विद्" धातु में "क्त" प्रत्यय मानने का चौथा कारण मल्लिनाथ ने "कर्मणि क्त" माना है जिसका तात्पर्य युधिष्ठिरेण विज्ञात:" है अथवा दुर्घटवृत्ति के आधार पर विद् धातु से इतच् प्रत्यय लगाने पर "विदित:" शब्द बनता है । किसी व्याकरण के प्रसंग में वे अनेक विद्वानों के मतों को "इत्येके" तथा "केचित्" शब्दों के द्वारा उद्धृत करते हैं । नैषध १३।७ में "सुदती" शब्द पर वे इस प्रकार लिखते हैं —

"शोभना दन्ता: यस्या: सा, अत्र दन्तशब्दस्य दत्रादेशलक्षणाभावात् "अग्रान्त —"इत्यादि सूत्रे चकारस्यानुक्त समुच्चयार्थत्वात् दत्रादेश: इत्येके, सुदत्यादिशब्दानां स्त्र्यभिधायितया यौगरूढत्वात् "स्त्रियां संज्ञायाम्" इति विकल्पात् दत्रादेश: इति केचित् । एतदेवाभिप्रेत्य "सुदत्यादय: प्रतिविधेया: इत्याह वामन:, उचितश्चैति ह्येष् ।"

व्याकरण के प्रसंग में अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए वे "सुधाकर" को भी उद्धृत करते हैं । भट्टिकाव्य २।४२ में "अजिग्रहं जनको धनुस्तत्" श्लोक के अन्तर्गत आये हुए "ग्रह्" धातु को मल्लिनाथ ने द्विकर्मक माना है । इस सम्बन्ध में "मनोरमा" में इस प्रकार लिखा गया है —

"ग्रहेस्तु द्विकर्मकत्वं यद्यपि सुधाकरादीनां सम्मतं तथापिअनुशासनबलाभावात् एव "अजिग्रहं जनको धनुस्तत्" इति भट्टिप्रयोगमविज्ञायस्यैवाभिधानमिति व्याचख्यु: तथाहि अधिकारं न हि देव देवमद्रि: पुरां ग्राहयितुं समाक" इत्यत्र ग्राहयितुमप कृताकृत्वैन बोधयितुमिति । युक्तं चैतत् । ग्राहेर्द्विकर्मकत्वे हि — "बाणप्रतिग्राहिकां गन्धमात्याम" इत्यत्र केन प्रयोज्याया: फैरभिधानं स्यात् "अनन्तेकतुरपकर्मण:

जल से छुटकारा प्राप्त करने पर मन और वचन के अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त किया । मल्लिनाथ ने इस प्रसंग में "यतो वाच: निवर्तन्ते" तथा "अवाङ्मनस-गोचरम्" उद्धरण प्रस्तुत किया है ।

समवायिकारणों से युक्त रूपादिगुण कार्य में संक्रमित होते हैं न कि निमित्तगुण । तर्कशास्त्र का सिद्धान्त है कि — "समवायिकारणगुणा: रूपादय: कार्ये संक्रामन्ति न निमित्तगुणा:"

इसीप्रकार नैषध ११।२६ में "द्व्यणुक" शब्द की व्याख्या मल्लिनाथ तार्किकों के मत को उद्धृत करते हुए करते हैं उदाहरणार्थ — "द्व्यणु कारणोऽस्ये-नास्यास्तीति द्व्यणुकम्, अणुद्वयादिद्रव्यं, ठैयिक: क प्रत्यय:, द्व्यणुकादिक्रमेण कार्यद्रव्यारम्भ" इति तार्किका: कारण के गुणों से ही कार्य के गुण होते हैं ।[1]

मन की अणुपरिमाण कल्पना दार्शनिकों का मत है । इसे मल्लिनाथ ने नैषध १३।३६ पर व्याख्या करते समय उल्लिखित किया है ।

मल्लिनाथ ने सांख्यदर्शन को भी प्रमाणरूप में अनेकबार उद्धृत किया है । रैवतक पर्वत पर समाधिस्थ योगियों को प्रकृति और पुरुष का अन्तर ज्ञात था ।[2] सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष के विवेक न होने के कारण ही सृष्टि की कल्पना की गई है । विवेक हो जाने पर तो मोक्ष हो ही जाता है । उपरत प्रकृति में पुरुषरूप से स्थित रहना ही मुक्ति है । मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा चित्तवृत्तियों तथा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पंचक्लेशों की विस्तृत व्याख्या मल्लिनाथ ने प्रस्तुत की है जो सांख्-

---

१. नैषध ११।२६ पर न्याय सिद्धान्त

२. शिशुपालवध ४।५५ "प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकग्रहणात् संसार: । विवेक ग्रहणान्मुक्ति: इति सांख्या । प्रकृतावुपरतायां पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मुक्ति: इति योगसिद्धान्त: ।।

दर्शन के विषयक्षेत्र की परिधि में आते हैं।

शिशुपालवध १।३३ श्लोक में मल्लिनाथ ने सांख्य दर्शन के प्रकृति, पुरुष एवं महदादि विकारों को भी अपनी दार्शनिक प्रतिभा से स्पष्ट किया है। साथ ही साथ सांख्य दर्शन के महान् आचार्य कपिल मुनि का उल्लेख करके उन्होंने सांख्यदर्शन के इतिहास से भी अपना परिचय कराया है। उन्होंने "मूलप्रकृति-रविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" तथा "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" इन सांख्य की कारिकाओं को भी उद्धृत किया है।

कुमारसंभव २।१४ में यह वर्णन आया है कि सभी देवता इन्द्र को लेकर ब्रह्मा के पास जाते हैं तथा उनकी स्तुति करते हैं कि हे देव। तुम्हें ही भोगापवर्ग में प्रवर्तित करने वाली प्रकृति तथा उसके क्रियाकलाप को उदासीन होकर देखने वाला पुरुष कहा गया है। यहाँ पर सांख्य सिद्धान्तानुसार ब्रह्मा की स्तुति की गयी है। सांख्य के सिद्धान्तानुसार प्रकृति "अजा" अर्थात् अनादि एवं अविनाशिनी है। इसमें सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण हैं, इसीलिए इसे त्रिगुणात्मिका कहा गया है। इन सत्त्वादि तीनों की गुणसंज्ञा पुरुष के भोगापवर्ग के लिए होने के कारण है जिसकी स्थिति दूसरे के लिए होती है, अपने लिए नहीं, उसका उस दूसरे की अपेक्षा अप्रधानभाव गुणभाव होता है। यही कारण है कि सत्त्व इत्यादि को गुण संज्ञा दी गई है।

पुरुष वस्तुतः उदासीन होकर भी प्रकृति के कार्यों को अपने में आरोपित करने के कारण कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व इत्यादि बन्धनों में पड़ जाता है। मल्लिनाथ यहाँ पर श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रमाण देते हुए लिखते हैं —

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्"।

ब्रह्मा को पितरों के पिता और देवताओं के देवता तथा श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ बताया गया है। इस बात को सिद्ध करने के लिये उन्होंने कठोपनिषद् से उद्धरण दिये हैं, यथा — इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान्परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः

अनेक दार्शनिक प्रसङ्गों के स्पष्टीकरण के लिये ये श्रीमद्भगवद्गीता को भी उद्धृत करते हैं। राजा रघु अपनी ज्ञानाग्नि से सभी कर्मों को नष्ट करने लगे। उन्हें स्थिरबुद्धिवाला कहा गया है। इन दोनों बातों की प्रामाणिकता मल्लिनाथ ने "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" तथा "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते" गीता की इन पंक्तियों से सिद्ध किया है।

योगशास्त्र का भी उल्लेख मल्लिनाथ ने रघुवंश की अपनी संजीवनी टीका में किया है। उन्होंने अविद्या की व्याख्या इस प्रकार की है — "अनित्या-सुखानात्मसु नित्यसुखात्मबुद्धिरविद्या।" मल्लिनाथ कृत अविद्या की यह व्याख्या योगशास्त्र में की गई है।

वैशेषिक दर्शन के "द्रव्य" को मल्लिनाथ ने उद्धृत करके इस दर्शन से अपना परिचय दिया है। द्रव्य के विषय में वैशेषिक के सिद्धान्त को मल्लिनाथ ने इस प्रकार उद्धृत किया है — "मत्स्यण्डिकाः खण्डविकारभेदेन गुणात्मकाः। यथा तथा हि नैर्मल्यं मधुरत्वं यथा तथा॥ शीतत्वाग्निर्मलत्वाच्च तथा स्निग्ध-मधुरात्। वातघ्नं पूर्वं भ्रम मूर्च्छाभ्रान्तिपित्तघ्नता। मत्स्यण्डकाकृतिवत् द्रव्य-भोगाच्च मत्स्यण्डिका स्मृता। स्फटिकोपलखण्डाभः खण्डस्तच्छर्करा तथा॥ शर्करा निर्मला सैव सिता तु सितशर्करा। निर्मिता सिता खलु राजराज इतीरिता"

इसीप्रकार नैषध २२।३५ श्लोक की व्याख्या में भी मल्लिनाथ ने वैशेषिक दर्शन का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध होता है कि मल्लिनाथ का दर्शनशास्त्र से बहुत अधिक परिचय था।

(ख) संगीतशास्त्र का उल्लेख :—

संगीत के प्रसंग में संगीत के ग्रन्थों से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। रघुवंश में "वीणा" को "बहुप्रकारवादिनी" कहा गया है। बहुत दो प्रकार का होता है। उस सादृश्य के कारण वीणा भी दो प्रकार की कही

जाती है।'षड्ज' का शाब्दिक अर्थ होता है —'छः स्थानों से निकलने वाली ये छः स्थान नासा, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा और दांत हैं। इन छः का स्पर्श करने के कारण ये षड्ज कहे गये हैं। मल्लिनाथ ने षड्ज को तन्त्रीकण्ठजन्मा स्वर विशेष कहा है जैसे —

> 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पंचमश्चेत्यमी सप्त तन्त्री-कण्ठोत्थिताः स्वराः' इत्यमरः।

संगीत के 'टेक्निकल' शब्दों की परिभाषा एवं व्याख्या संगीत प्रधान ग्रन्थों एवं संगीत के प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य प्रमाणरूप में प्रायः अधिकांश स्थलों पर देखी जा सकती है।[1] किन्नर देवयोनि के होने के कारण षड्जी और से गान्धार ग्राम से गान करते हैं। नारद को उद्धृत करते हुए लिखा गया है कि —' षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानवाः। न तु गान्धार नामानं स लभ्यो देवयोनिभिः॥' तानो नाम स्वरान्तरप्रसर्पकोरागस्थिति-प्रयुक्त्यादिहेतुरालापरनामा पंक्तापप्यायः प्रधानभूतः स्वरविशेषः' अभिनवगुप्त ने तान की परिभाषा इस प्रकार से की है —'तानस्वरसंख्यारोपाः'।

भरत ने लिखा है — गाता यं यं स्वरं गच्छेत् तं तं यत्न तानयेत्

'मूर्छना' की परिभाषा संगीत रत्नाकर से मल्लिनाथ ने इस प्रकार से दी है — स्वराणां स्थापनाः क्रान्ताः मूर्छना सप्त सप्तहि

श्रुति का तात्पर्य उस शब्द विशेष से है जिसमें स्वरों के आरम्भक अवयव विशेष होते हैं। संगीतरत्नाकर में श्रुति का अनुरणन इस प्रकार से किया गया है — श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः। स्वतो रंजयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते॥' श्रुति के विषय में कहा गया है कि — प्रथमश्रवणाच्छब्दः

---

१. कुमारसंभव १।८

श्रूयते इत्यतश्च: । सा श्रुतिः संपरिदृश्या स्वरावयवलक्षणा

श्रुति की परिभाषा बताने के बाद श्रुति के संख्या के नियम के विषय में किया गया है । यथा — "चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपंचमाः । द्वे द्वे निषादगान्धारौ । त्रिस्त्रिर्ऋषभधैवतौ" । षड्जादिस्वर सम्लक्षणा वाले कहे गये हैं — "श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः । पंचमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते । तेषां संज्ञा सरिगम पधनीत्यपरा मता ।"

मल्लिनाथ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करते समय पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं । वे वीणा में स्वर, ग्राम और मूर्च्छना को ही नहीं स्पष्ट करते हैं अपितु कौन वीणा किसकी है, यह भी स्पष्ट रूप से लिख देते हैं । यहाँ पर केवल नारद की वीणा का ही वर्णन कवि कर रहा है किन्तु मल्लिनाथ अन्य वीणाओं से परिचित थे ।[1] विश्वावसु की वीणा का नाम "बृहती", "तुम्बुरु की कलावती, नारद की महती और सरस्वती की कच्छपी थी [2]।

ग्राम का लक्षण करने के बाद ग्राम के भेदोपभेद का भी उल्लेख करते हैं — " यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि । तथा स्वराणां संदोहो ग्राम इत्यभिधीयते । षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च गान्धारग्राम इत्येतद्ग्रामत्रयमुदाहृतम् ।।" और भी "मन्द्रावर्तोऽथ वीभूतः तुम्बुरो ग्रामकालकः । षड्जमध्यमगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः"

यही प्रसंग मेघदूत में भी आया है । यहाँ पर भी मल्लिनाथ ने संगीत के इन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की है ।

ये उपरिलिखित उदाहरण मल्लिनाथ के संगीतशास्त्रज्ञ होने के सूचक हैं ।

~~छन्द का निर्देश :-~~

—

~~मल्लिनाथ अपनी सम्पूर्ण टीकाओं में छन्दों का निर्देश भी करते~~ हैं ।

---

१. शिशुपालवध १।१०

२. वैजयन्तीकोश

शोध में अनुशीलित ग्रन्थों की सूची :-

१. आचार्य दण्डी एवं काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन, डा० जयशंकर त्रिपाठी

२. उत्तरमेघदूत — डा० लाल रमायदुपाल सिंह

३. एकावली, विद्याधर, कमलाशंकर प्राणशंकर द्वारा सम्पादित, बाम्बे, १९०३

४. ऐतरेय ब्राह्मण

५. काशिका

६. काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका, बाम्बे १९०१

७. काव्यादर्श, एस०के० बेलवलकर

८. काव्य मीमांसा, राजशेखर, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा

९. कालिदास और कृष्ण, डा० बुद्ध प्रकाश

१०. किरातार्जुनीय, निर्णयसागर प्रेस

११. किरातार्जुनीय चौखम्बा संस्कृत सिरीज

१२. किरातार्जुनीय चित्रभानु की टीका सहित, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज

१३. कुमारसम्भव मल्लिनाथी टीका सहित, निर्णय सागर

१४. कुमारसम्भव मल्लिनाथी टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सिरीज

१५. कैटलाग कैटलागोरम, आफ्रेट, मद्रास यूनिवर्सिटी, १९५५

१६. दशरूपक

१७. ध्वन्यालोक

१८. ध्वनि सिद्धान्त, ध्वनि विरोधी आचार्य, उनकी मान्यतायें, डा० सुरेश-चन्द्र पाण्डेय

१९. निरुक्त

२०. नैषधीय चरितम् नारायणी टीका सहित, निर्णय सागर, १८९४

२०अ. नैषधीय चरितम् मल्लिनाथी टीका सहित—चौखम्बा संस्कृत सिरीज

२१. पालिसाहित्य का इतिहास, डा० भरत सिंह उपाध्याय

२२. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य आनन्दगिरि टीका (आनन्दाश्रम सिरीज), १८९१

२३. भट्टिकाव्य मल्लिनाथी टीका सहित,(बाम्बे संस्कृत सिरिज) १८६८
२४. भट्टिकाव्य जयमङ्गला और भरतमल्लिक टीका सहित, कलकत्ता, १८२८
२५. भारतीय इतिहास का उन्मीलन, जयचन्द्र विद्यालंकार
२६. भोज प्रबन्ध
२७. महाभाष्य
२८. प्रक्रिया कौमुदी
२९. प्रतापरुद्र यशोभूषण, कमलाशंकर, प्राणशंकर द्वारा संशोधित, बम्बई १९०९
३०. प्राकृत साहित्य का इतिहास
३१. रघुवंश महाकाव्यम् मल्लिनाथी टीका सहित, बाम्बे संस्कृत सिरिज
३२. रघुवंश नन्दर्गीकर संस्करण
३३. रघुवंश - चौखम्बा संस्कृत सिरिज
३४. रसार्णवसुधाकर, शिङ्गभूपाल, त्रिवेन्द्रम सिरिज
३५. शब्दकल्पद्रुम
३६. शाङ्करभाष्य
३७. शिशुपाल वध, निर्णयसागर प्रेस
३८. शिशुपालवध प्रथमसर्ग, डा० आद्याप्रसाद मिश्र एवं डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल
३९. संगीत रत्नाकर २ भाग (आनन्दाश्रम सिरिज)
४०. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला
४१. साहित्यदर्पण, निर्णयसागर १९०२
४२. सांख्यतत्त्वकौमुदी, डा० आद्याप्रसाद मिश्र
४३. सिद्धान्त कौमुदी
४४. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली

१०. मैसूर आरकीटिक्स रिपोर्ट १९२७, पेज २६

११. जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, वाल्यूम १३

१२. इण्डियन एण्टीक्वेरी ऑव के०बी० पाठक

१३. इण्डियन एण्टीक्वेरी (१९१२)

१४. इण्डियन एण्टीक्वेरी (१९१९)

१५. जर्नल ऑव द बाम्बे ब्रान्च ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसायटी (१९३०)

१६. रामकृष्णकवीय पेपर 'अवन्तीसुन्दरी कथा ऑव दण्डिन' इन प्रोसीडिंग्स ऑव द कलकत्ता ओरियन्टल कान्फरेन्स

१७. रंगस्वामी सरस्वतीज पेपर 'वसुबन्धु आर सुबन्धु'